जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 12 • दिसंबर, 2003

With best compliments from :

ASSURED DELIVERY

ON TIME EVERY TIME

Announcing
A Unique Q.T.S. Service

We now assure you the delivery of your parcel between

Delhi — Guwahati
Delhi — Patna Jn.
Delhi — Patna City
Delhi — Chennai
Delhi — Kolkata
Delhi — Nagpur
Mumbai — Delhi
Mumbai — Guwahati
Mumbai — Patna Jn.
Mumbai — Patna City
Kolkata — Guwahati

BIKANER ASSAM ROADLINES INDIA LTD.
Q.T.S.
SEAL OF SATISFACTION
Q.T.S. Service

UNDER NORMAL CIRCUMSTANCES

Call us and find out what make us the most preferred Q.T.S. Service in the North - South & East.

BIKANER ASSAM ROADLINES INDIA LTD.

H.O. : GANGASHAHAR 334401 (Bikaner) • Phone : 2271254 Fax : 2271254

Regd. Office : **31, Srinagar Colony, Ashok Vihar Road, Delhi 110052**
Phone : 23652004 Fax : 23651988

Guwahati Ph. : 2520787, 2547952 Fax : 2522028
Mumbai Ph. : 23422607, 23441476 Fax : 23410339
Kolkata Ph. : 22356399 Fax : 22431913 Chennai : Ph. 25231436
Nagpur Ph. : 5617160, 2770091
Patna City Ph. : 9431017527 Mobile

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • दिसंबर, 2003 • अंक 12

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
कर्मशास्त्र और समस्या के स्रोत : एक विमर्श

14
डॉ. एस. राधाकृष्णन्
रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म : विज्ञान व प्रौद्योगिकी

18
मुनि मदनकुमार
जैन दर्शन में अनशन का मूल्य

•

आवरण
खेराज

अनुभूति

33
युवाचार्य महाश्रमण
आध्यात्मिक वैभव, शरीर और आत्मा

35
साध्वी जिनप्रभा
श्रुताभ्यास : ज्ञान-चेतना का मार्ग

37
कहानी
रमेशचन्द्र शाह
मैं और असीम

44
कविता
प्रयागनारायण त्रिपाठी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
विकास के लिए शांति

शीलन

47
प्रो. भागचंद्र जैन 'भास्कर'
निष्कपटता ही ऋजुता

50
साध्वी मुदितयशा
शांति का द्वार है निस्पृहता

53
बालकथा
भगवान सिंह
न्याय की कीमत

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

संस्कृतियां लगातार बदलती हैं। समाज लगातार बदलते हैं। साहित्य लगातार बदलता है।

आप लक्ष्य करेंगे कि इन तीनों वाक्यों का ढांचा एक-सा है, लेकिन तीसरे में हम बहुवचन से एकवचन पर आ गए हैं। थोड़ा रुककर सोचिए कि अगर इस बात को हम आंखों-ओट हो जाने देते हैं तो अनजाने कितना बड़ा पूर्वग्रह हमने निगल लिया है।

दोनों उक्तियों को अलग-अलग एकवचन और बहुवचन में रखकर देखिए। संस्कृति बदलती है, समाज बदलता है, साहित्य बदलता है। ऐसा कहने में हम समग्र मानव जाति, समग्र मानव समाज की बात सोच रहे होते हैं और साहित्य की भी अमूर्त सैद्धांतिक अवधारणा कर रहे होते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि संस्कृतियां बदलती हैं, समाज बदलते हैं, तब हम एक दूसरी कोटि की सचाई की बात कर रहे होते हैं; संस्कृति और समाज की एक दूसरी परिभाषा लेकर चल रहे होते हैं। इस स्थूलतर मूर्त संदर्भ में हमें साहित्य की नहीं, साहित्यों की बात करनी चाहिए और बहुवचन में ही कहना चाहिए कि साहित्य बदलते हैं।

मानव संस्कृति की बात करते हुए हम आरंभ यहां से भी कर सकते हैं कि मानव पहला आत्मचेतन प्राणी है—ऐसा प्राणी, जो पूछ सकता है—मैं कौन हूं, मैं कहां जा रहा हूं—ऐसा प्राणी, जो अपनी मृत्यु की पूर्व-कल्पना कर सकता है और इसलिए अमरत्व को संतानता की भावना के साथ जोड़ सकता है—जो इस प्रकार इतिहास का स्रष्टा बन जाता है, जैविक स्तर पर अपने विकास को प्रभावित करने का सामर्थ्य पा लेता है, संस्कृति का उद्भव-स्रोत बन जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा मानव-प्राणी न केवल संस्कृति को बदलने में समर्थ है बल्कि लगातार उसे बदलता चलता है। परिवर्तन की कामना, योग्यता और उसका संकल्प उसकी आत्म-चेतना का सहज विस्तार है।

स्पष्ट है कि मानव संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है वह सब मानव समाज के बारे में भी कहा जा सकता है।

—अज्ञेय

हिंसा और अहिंसा का सिद्धांत मोहाणुओं की सक्रियता और निष्क्रियता पर अवलंबित है। मोहाणु मनुष्य को पदार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। उनकी मात्रा अधिक होती है तब वे आत्मा के सहजभाव को निजी बना देते हैं। जीवन और भोग साध्य बन जाते हैं। उनके लिए हिंसा की जाती है। आपने स्वयं अनुभव किया होगा और अनेक लोगों को यह कहते सुना होगा कि बुराई को बुराई जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। यह स्थिति मोहाणुओं की सक्रियता से बनती है। उनकी निष्क्रियता के लिए कठोर साधना अपेक्षित है।

'भिक्षु विचार दर्शन'

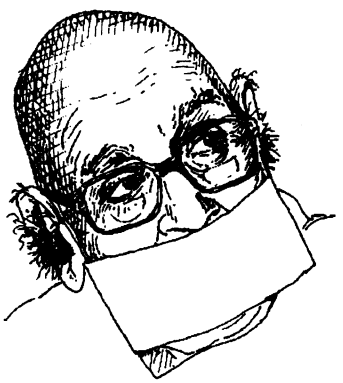

धर्म केवल साधना का मार्ग ही नहीं है, यह जीवन की समस्याओं का समाधायक भी है। विचारों और रुचियों की भिन्नता के कारण सामूहिक जीवन में वैचारिक आग्रह की समस्या कहीं भी खड़ी हो सकती है। जैन धर्म ने अनेकांत का दर्शन देकर सापेक्ष दृष्टि से समन्वय साधने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके कारण विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व स्वीकृत हो गया। इससे विभिन्न विचारधाराओं के लोग सहज ही जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होते रहे।

धर्म केवल उपदेश का तत्व नहीं है, वह जीवन का परिमार्जन करता है। जीवन को मांजने वाला तत्व है व्रत। भगवान महावीर ने सामाजिक धरातल पर जीने वाले लोगों में व्रतचेतना जगाने के लिए 'बारह व्रतों' की समायोजना की। एक सद्गृहस्थ की संपूर्ण आचार-संहिता है बारह व्रत। वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से एक आदर्श जीवनशैली। गृहस्थ जीवन में धर्म की सक्रिय आराधना का एक प्रारूप। उनके आधार पर जैनत्व की पहचान की जाती थी। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। भगवान महावीर के युग में इन व्रतों की अनुपालना करने वाले श्रावक लाखों की संख्या में थे।

—आचार्यश्री तुलसी

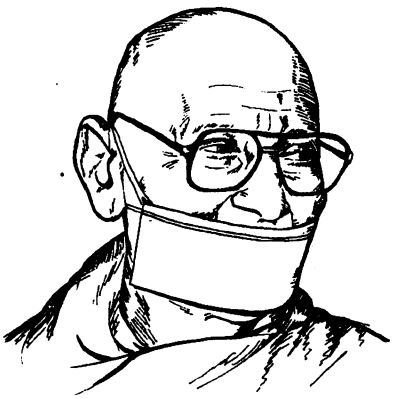

आज अनैतिकता का चक्रव्यूह चल रहा है। हर आदमी दूसरे को ठग रहा है। हर आदमी खुश हो रहा है, सिर-दर्द पैदा कर रहा है। तीन आयाम या तीन बिंदु बहुत स्पष्ट हैं। हम अध्यात्म की बहुत चर्चा कर रहे हैं। उपासना में बहुत रस लेते हैं। इतने उपासना-स्थल हैं। प्रतिदिन और नए-नए बनते जा रहे हैं। कोई अंत नहीं है। किंतु मध्य का बिंदु, जो नैतिकता का है, वह उपेक्षित पड़ा है। आने वाली पीढ़ी न आध्यात्मिक बनेगी और न उपासनात्मक। धर्म के दोनों बिंदु हम अपने ही हाथों समाप्त कर रहे हैं। यदि हमें धर्म के मूल्यों को जीवित रखना है तो वर्तमान पीढ़ी का यह उत्तरदायित्व है कि वह नैतिकता का विकास करे और इस उपेक्षित बिंदु को उभारे। यह बिंदु उभरना चाहिए, अन्यथा अनर्थ होगा। आदमी स्वयं धर्म के मूल को समाप्त कर रहा है। कौन कितना आध्यात्मिक है, यह गूढ़ बात है। इसका दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं होगा। कौन व्यक्ति कितनी उपासना करता है, कौन कितना समय उपासना में बिताता है, इनका भी दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे पर प्रभाव इस बात का होता है कि कौन व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है। जब तक व्यावहारिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना नहीं होगी तब तक धर्म हमारा सहयोग कर सके, मुझे कठिनाई लगती है। आज का ज्वलंत प्रश्न है नैतिकता। यह इसलिए ज्वलंत प्रश्न बन गया है कि आज असदाचार, अप्रामाणिकता आदि दुर्गुण बहुत व्यापक हो गए हैं। लोग पूछते हैं कि जब भारत में इतने धर्म हैं, इतने साधु-संन्यासी हैं, इतने धर्मगुरु हैं, फिर भी ये बुराइयां क्यों नहीं मिटतीं? इस पर मैंने गंभीरता से सोचा तो मुझे प्रतीत हुआ कि धर्म का तथा असदाचार और भ्रष्टाचार का कोई बहुत बड़ा संबंध नहीं है। इसलिए नहीं है कि जो लोग धर्म को नहीं मान रहे हैं वे भी भ्रष्टाचार कर रहे हैं और जो लोग धर्म को मानते हैं वे भी भ्रष्टाचार कर रहे हैं। कोई अंतर नहीं दिखाई देता। इस प्रश्न का संबंध आध्यात्मिकता के साथ अवश्य जुड़ता है। यदि आदमी आध्यात्मिक है और भ्रष्टाचार करता है तो प्रश्न होता है कि आध्यात्मिक हो गया, फिर भ्रष्टाचार कैसे रह गया? सचमुच यह तर्क आएगा कि आध्यात्मिक व्यक्ति भ्रष्टाचार नहीं कर सकता और जो भ्रष्टाचार करता है वह आध्यात्मिक हो ही नहीं सकता। यह एक निश्चित व्याप्ति है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
दिसंबर, 2003

प्रसंग

विकास के लिए शांति

टकराव और युद्ध की आशंकाओं से ग्रस्त समाज कभी भी अपना विकास नहीं कर सका है, विकास के लिए शांति चाहिए—इस बात को हर राष्ट्र और प्रत्येक जागरूक नागरिक जानता है। यह जानते हुए भी हम देख रहे हैं कि आतंकवाद से लेकर युद्धोन्माद तक की स्थितियां बनी हुई हैं और वे लोग, जो शांति की चाह रखते हैं—निरुपाय हैं। इस असहाय अवस्था को तोड़ने के लिए विचार तो निरंतर चलते रहते हैं, पर कारगर उपचार आज तलक नहीं हो पाया है। निस्संदेह वे लोग, जो इन विचारों को चलाए रख रहे हैं—साधुवाद के पात्र हैं।

विकास के लिए शांति की बात करें, चाहे शांति के लिए विकास जरूरी है—ऐसा सोचें, पर यह बात सर्वमान्य है कि विकास और शांति—दोनों ही नितांत आवश्यक हैं और हम एक सभ्य समाज तभी कहला सकते हैं जब इन दोनों का मजबूत आधार स्थापित हो सके।

विकास और शांति की बात करते हुए हमें विकास की अवधारणा पर भी विचार करना चाहिए। जब भी इस तरह की चर्चा होती है तो प्रमुखतः भौतिक विकास तक ही सीमित होकर रह जाती है। समग्र मानवीय चेतना के विकास पर कोई बात नहीं हो पाती। नतीजतन हम देख सकते हैं कि इस विकास ने जटिलताएं अधिक पैदा की हैं। हम अमेरिका को अपने सम्मुख रख सकते हैं, जो सबसे अधिक विकसित राष्ट्र होते हुए भी आज समूचे विश्व में शांति के प्रश्न पर सर्वाधिक चिंतित और परेशान है। सबसे अधिक शक्तिशाली समझा जाने वाला कोई राष्ट्र कितना भयग्रस्त हो सकता है—हम अमेरिका को देखकर अनुमान लगा सकते हैं। जितनी सामाजिक विकृतियां ऐसे भौतिक विकास-संपन्न राष्ट्रों में हम पाते हैं, उन्हें देख यह भी सोचा जा सकता है कि इस तरह के विकास को क्या विकास माना भी जाए? क्या विकास ही विकृतियों का जनक है?

कहना होगा कि यदि आर्थिक और भौतिक विकास ही हमारे विकास के मानदंड रहे, तो मानवीय अस्तित्व की रक्षा कठिन होती जाएगी। हम भली-भांति जानते हैं कि आर्थिक और भौतिक विकास के वर्तमान स्वरूप के चलते अन्याय, अत्याचार और शोषण को नहीं थामा जा सकता। जाहिर है, ऐसी स्थिति में शांति की आशा करना भी एक प्रकार का दिवास्वप्न-सा ही रहेगा।

फिर भी हमारे राष्ट्रपतिजी ने सन् 2020 तक भारत को एक विकसित राष्ट्र के रूप में देखने की आशा की है। सूरत में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य में अलग-अलग धर्म-प्रमुखों के बीच राष्ट्रपतिजी ने अपने जन्म-दिन पर यह अपेक्षा की। तब आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सही ही कहा कि केवल आर्थिक या औद्योगिक विकास से यह आशा पूरी नहीं हो सकती; आध्यात्मिक विकास के साहचर्य के साथ-साथ आर्थिक या औद्योगिक विकास चले तभी यह आशा फलवती हो सकती है।

आध्यात्मिकता को लेकर महात्मा गांधी ने सन् 1925 में जो कहा था, हमें उसे देखना चाहिए। बापू ने कहा था—'मैं यह नहीं मानता कि आध्यात्मिक नियम के प्रवर्तन का अपना कोई विशिष्ट क्षेत्र है। इसके विपरीत, वह जीवन के दैनंदिन क्रिया-कलाप के माध्यम से ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार, यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक—सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है।' गांधी ने जिस आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया है वह और कुछ नहीं, मानवीय चेतना ही हो सकती है जिसमें नैतिकता, प्रेम और अहिंसा परिलक्षित होती हो। इससे विरत किसी भी स्थिति को उन्होंने शैतानी स्थिति ही माना। जिस भौतिक विकास को लोग आधुनिक सभ्यता की उपलब्धि मानते रहे हैं, महात्मा गांधी उसके लिए बड़ी कठोर टिप्पणी करते हैं। सन् 1927 में गांधी ने कहा—'मैं दूरी और समय को नष्ट करने की, पाशविक भूख को बढ़ाने की और उसकी संतुष्टि के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने की इस पागल दौड़ की हृदय से निंदा करता हूं। अगर आधुनिक सभ्यता यही है—मैंने तो यही समझा है—तो मैं इसे शैतानी ही कहूंगा।'

हमारे राष्ट्रपतिजी ने अपने जन्मदिन के रोज भारत के विकास के लिए जो सपना संजोया है और सन् 2020 तक उसके पूरा होने की जो आशा की है, उसे महात्मा गांधी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उपरोक्त कथनों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

सूरत में आए धर्म-प्रमुखों व राष्ट्रपतिजी के सम्मुख आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तो धर्म-क्षेत्र की ओर भी संकेत किए। धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिकता को महत्त्व नहीं दिए जाने की ओर संकेत करते हुए उन्होंने मानवीय एकता के साकार नहीं होने की वजह भी यही बताई। साथ ही उन्होंने उपाय भी सुझाए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि वही व्यक्ति आध्यात्मिक हो सकता है जिसका अपने संवेगों पर नियंत्रण है। मानव-जाति के उत्थान और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के विकास के लिए संवेग-नियंत्रण की प्रयोगात्मक पद्धति के विकास की जरूरत वे बतलाते हैं।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार समारोह पर जो वक्तव्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने दिया, उसमें भी उन्होंने स्पष्ट कहा कि लोकतंत्र में अहिंसा-प्रभावित राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कुछ बिंदु सुझाए और माना कि विकास के लिए शांति अनिवार्य है। हिंसा, संघर्ष और युद्ध—ये सभी विकास के बाधक, मानवीय एकता को खंडित करने वाले और गरीबी बढ़ाने वाले हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने इस वक्तव्य में स्पष्ट माना है कि वही शासक सफल हो सकता है जो भौतिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अहिंसक नीति का प्रयोग करता है और जनता में अहिंसक नीति के प्रति आकर्षण पैदा करता है।

महात्मा गांधी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ये विचार गहरा साम्य तो रखते ही हैं, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तो इस विकारग्रस्त सभ्य समाज को कुछ उपचार भी बताते हैं। वे आवेश को उपशांत करने के प्रशिक्षण की बात करते हैं और शिक्षा प्रणाली में मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के प्रयोगों को जोड़कर पाशविक वृत्तियों को तिरोहित करने की सलाह भी देते हैं।

सन् 2020 तक जिस विकसित भारत की कल्पना की गई है, हमें मानना चाहिए कि इन्हीं सोपानों से वह कल्पना साकार हो सकती है।

—शुभू पटवा

विमर्श

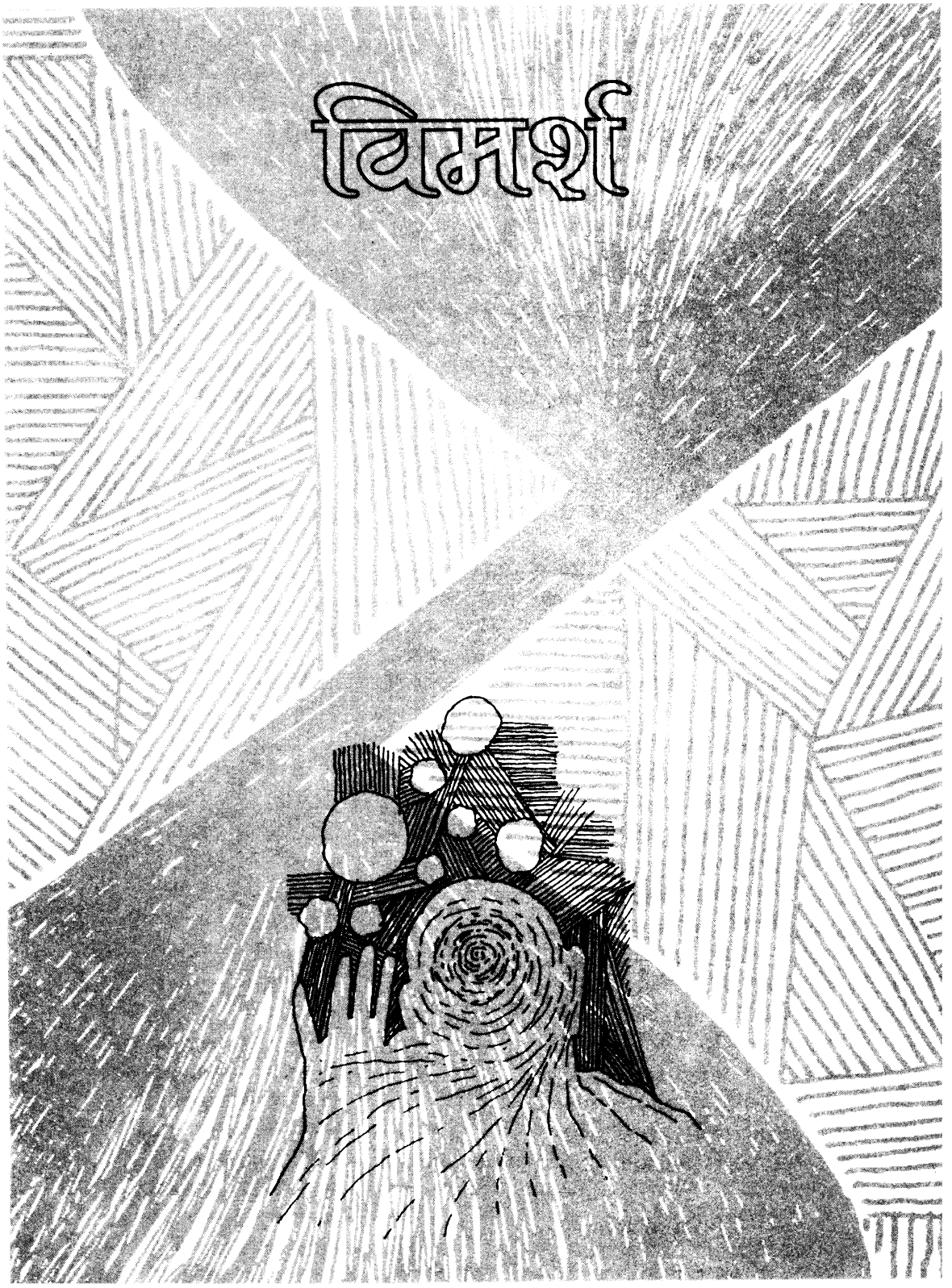

व्यक्तित्व तो माध्यम है—निष्क्रिय माध्यम। यह सक्रिय तब होता है, जब इसमें 'स्व' का आवेश होता है अथवा 'लोक-मन' का आवेश होता है। दोनों दो किस्म की सिसृक्षा, दो किस्म का जीवन बारी-बारी से एक ही व्यक्तित्व के अंदर आरोपित करते हैं। (यह दुहरा जीवन दरअसल दुहरा ही नहीं, बल्कि एक पर एक-एक कई परतों वाला है। पर मोटे तौर पर उन्हें 'स्व' और 'लोक'—दो वर्गों में विभाजित करके 'दुहरा' कहते हैं।) वास्तव में यह व्यक्तित्व का विखंडन नहीं, व्यक्तित्व का बहुमुखीपन या पूर्णता है। व्यक्तित्व का विखंडन तो तब होता है जब इस दुहरे जीवन के दोनों पहलू एक-दूसरे से सहयोग नहीं कर पाते हैं, जब वे परस्पर सहयोगी न होकर परस्पर विरोधी हो जाते हैं और एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। पर जिस प्रतिभा के अंदर ये परस्पर पूरक और परस्पर सहयोगी हो जाते हैं, उसके व्यक्तित्व को ये अधिक प्रामाणिकता और पूर्णता प्रदान करते हैं। सत्य के कई पहलू होते हैं। जो व्यक्तित्व जितने ही अधिक पहलुओं को पहचाने, वह उतना ही अधिक प्रामाणिक और संपृक्त है।

—कुबेरनाथ राय

❑

जब हम सापेक्षवाद के आधार पर चिंतन करते हैं तो पूरी सचाई की बात किसी एक बात में हो ही नहीं सकती। वह सब अपूर्ण सत्य है। परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किंतु परिस्थिति ही सब-कुछ है, परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है, हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है—ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकांततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोड़ा नहीं जा सकता, वह कभी टूट नहीं सकता। वह आगे-से-आगे घूमता रहता है। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? यह भी तो एक चक्र है। क्योंकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होकर घटित है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है?

कर्मशास्त्र और समस्या के स्रोत : एक विमर्श

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

ज्ञान की दूसरी शाखाएं, जो स्नायविक उत्तेजना तथा परिस्थिति के कारण मानवीय आचरण की व्याख्या करती हैं, वे शरीर से आगे नहीं जा पाती, यह उनका विषय भी नहीं है। उनका विषय शरीर से प्रतिबद्ध है। मानसशास्त्र ने मनोविश्लेषण क्रिया और मानसिक समस्याओं के बारे में विचार भी किया, उनका समाधान भी दिया, किंतु वह समाधान परिस्थिति और परिस्थिति-जनित स्नायविक उत्तेजना—इन दो में ही समाहित हो जाता है, इन दो से आगे नहीं जा पाता। वह अवचेतन मन तक जाता है, किंतु अवचेतन मन में भी ऐसा क्यों होता है, इसका कोई सही समाधान प्राप्त नहीं होता।

कर्मशास्त्र ने इनके मूल कारणों पर विचार किया है, परिस्थितियों पर भी विचार किया है। उसने परिस्थितियों को अस्वीकार नहीं किया है, क्योंकि परिस्थितियां निमित्त बनती हैं। निमित्त को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु जो घटना घटित होती है, उसका मूल हेतु क्या है—इसके विमर्श में जब हम जाएं तो पता चलेगा कि प्रत्येक समस्या के पीछे किसी-न-किसी कर्म की कोई प्रेरणा है।

कुछ व्यक्ति नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है। कुछ व्यक्ति जानते हैं, पर करने में समर्थ नहीं होते। कुछ व्यक्ति जानते हैं, किंतु सही-सही नहीं जानते। कुछ करते हैं, पर सही ढंग से नहीं करते। इस प्रकार अनेक समस्याएं हैं और प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी समस्या का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएं क्यों हैं? इनका हेतु क्या है? कर्मशास्त्र में इन प्रश्नों पर विमर्श किया गया और इनका समाधान भी दिया गया।

हम अज्ञान को लें। आदमी नहीं जानता। किसी कर्मशास्त्री से पूछो तो वह कहेगा—यह आदमी नहीं जानता। इसका मूल कारण है ज्ञानावरण-कर्म का उदय। उस व्यक्ति की चेतना को ज्ञान का आवरण प्रभावित कर रहा है, इसलिए इसके ज्ञान का विकास नहीं हो पा रहा है।

मानसशास्त्री शरीर के आधार पर कारण ढूंढेगा और उन कारणों का विश्लेषण करेगा। मानसशास्त्री कहेगा—इस व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नहीं है, इसलिए इसमें ज्ञान का विकास कम है।

प्रश्न है कि मस्तिष्क विकसित क्यों नहीं हुआ? इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण अवश्य है। वह कारण छिपा हुआ है—सूक्ष्म शरीर में। वह स्थूल शरीर में प्रकट नहीं है। उस व्यक्ति के ज्ञान के आवरण का इतना प्रबल उदय है कि ज्ञान का संवाहक अवयव बना ही

नहीं या बना है तो अधूरा है। ज्ञानावरण के कारण ही मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ है। अमनस्क जीवों (Non-vertebra) में पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क नहीं होते। समनस्क जीवों (Vertebra) के पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क होते हैं। फिर भी उनका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण-विलय के तारतम्य के आधार पर वह तरतमतायुक्त होता है।

एक व्यक्ति जानता है—उसमें ज्ञान है। पर कुछ करने में वह अपने को समर्थ नहीं पाता है। अपने-आप को अकर्मण्य पाता है। कर्मशास्त्र कहेगा—इसका भी कारण है। वह कारण है—अंतराय-कर्म का उदय। वह कर्म उस व्यक्ति की शक्ति को बाधित कर रहा है, उसे स्खलित कर रहा है। वह कर्म शक्ति का प्रतिघात कर रहा है। उसमें अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वह उसकी कर्मजा शक्ति में सहयोग नहीं दे रहा है, बाधा पहुंचा रहा है।

दो प्रकार की क्षमता है—योग्यतात्मक क्षमता और क्रियात्मक क्षमता। योग्यतात्मक क्षमता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र की भाषा में योग्यतात्मक क्षमता को 'लब्धिवीर्य' और क्रियात्मक क्षमता को 'करणवीर्य' कहा जाता है। जिस व्यक्ति में 'लब्धिवीर्य' नहीं होता—शक्ति का मूलतः विकास नहीं होता, वह कुछ कर ही नहीं पाता। वह कितना ही चाहे, कर नहीं सकता। जिस व्यक्ति में लब्धिवीर्य है, किंतु करणवीर्य नहीं है, क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो शक्ति की उपलब्धि होने पर भी वह कुछ नहीं कर पाता। जिसमें दोनों हैं, वही व्यक्ति कुछ कर पाता है।

कर्मशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण बिंदु को समझने के लिए हमें आत्मा और शरीर, मन और शरीर—दोनों के योग को ठीक से समझना होगा। मन का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से वे सारे कार्य नहीं हो सकते जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते हैं। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते हैं जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं। वे हैं—चैतन्य का पूर्ण विकास, आनंद का पूर्ण विकास, शक्ति का पूर्ण विकास, अर्थात अनंत चैतन्य, अनंत आनंद और अनंत शक्ति की प्राप्ति। वह चैतन्य जिसका एक कण भी आवृत नहीं होता, वह आनंद जिसमें कभी विकार नहीं आता, जिसमें कभी शोक की लहर नहीं आती, वह अखंड आनंद, अव्याबाध आनंद। वह शक्ति जिसमें कोई बाधा नहीं होती, कोई स्खलना नहीं होती, कोई रुकावट नहीं होती। यह केवल आत्मा में ही हो सकता है। किंतु जहां शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य प्रकट हो रहा है, वह अखंड नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाला आनंद भी अव्याबाध नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति भी अव्याहत नहीं होगी। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है, वह कभी पूर्ण नहीं होता। माध्यम का अर्थ होता है—बैसाखी। अपने पैरों से चलने वाला व्यक्ति जिस शक्ति का अनुभव करता है, बैसाखी के सहारे चलने वाला व्यक्ति वैसी शक्ति का अनुभव कभी नहीं कर सकता। बैसाखी का सहारा तभी लेना पड़ता है, जब पैरों में शक्ति की कमी होती है। यदि पैरों में शक्ति हो तो बैसाखी निरर्थक है। मनुष्य माध्यम का सहारा तब लेता है जब पूरक की जरूरत होती है। आंखों की शक्ति न्यून होती है, तब चश्मा लगाना पड़ता है। वह शक्ति का पूरक होता है। देखने की शक्ति न्यून न हो तो चश्मा आवश्यक नहीं होता, माध्यम की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। शरीर के माध्यम से ही आत्मा की शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति, आनंद की अभिव्यक्ति—ये सारी अभिव्यक्तियां शरीर के माध्यम से होती हैं।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं—इंद्रियां, मन और बुद्धि। आनंद की अभिव्यक्ति का माध्यम है—अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। हाथ, पैर आदि सारे अवयव शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इंद्रियां भी शक्ति की अभिव्यक्ति के मार्ग हैं। शक्ति के बिना कुछ भी नहीं होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। आनंद की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुड़ा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम है शरीर। इसीलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। चैतन्य का विकास हो गया, किंतु इंद्रियां ठीक नहीं हैं, इंद्रियों का जो आकार बना है, इंद्रियों के जो गोलक बने हैं, स्वस्थ नहीं हैं, तो चैतन्य की शक्ति काम नहीं आएगी, उसका उपयोग नहीं हो पाएगा, वह अनुपयोगी ही बनी रहेगी। आनंद का विकास है, किंतु अभिव्यक्ति का माध्यम ठीक नहीं है तो वह कार्यकर नहीं होगा। शरीर भी ठीक होना चाहिए, इंद्रियों के गोलक स्वस्थ और सक्षम होने चाहिए, तभी उनमें शक्तियां अभिव्यक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। बिजली का प्रवाह निरंतर गतिशील है। यदि बल्ब ठीक है तो वह अभिव्यक्त हो जाएगा, प्रकाश फैल जाएगा। यदि बल्ब ठीक नहीं है तो बिजली रहते हुए भी उसमें अभिव्यक्त नहीं होगी, प्रकाश नहीं होगा, अंधेरा

नहीं मिटेगा। माध्यम ठीक होना चाहिए तभी अभिव्यक्ति हो सकती है।

शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है। किंतु निमित्त का मूलस्रोत है—कर्म। कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है। किंतु उसमें हमें अपवाद भी मिलते हैं। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शांत है, मन शांत है, कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, फिर भी मन में अचानक उदासी छा जाती है, मन चिंता से भर जाता है, वह शोकाकुल हो जाता है। कभी-कभी अचानक मन हर्ष से विभोर हो जाता है, मुस्कराहट फूट पड़ती है। यह सब सकारण हो तो बात समझ में आ सकती है। कोई हास्यास्पद घटना घटित हो और हंसी आ जाए या चिंता पैदा करने वाली घटना घटित हो और मन चिंता से भर जाए—यह बात समझ में आ सकती है। किंतु अकारण ही मन में हर्ष या विषाद पैदा हो—यह आश्चर्य में डाल देता है। जब हर्ष, विषाद, चिंता या शोक का कोई प्रत्यक्ष हेतु नहीं दीखता तब अचंभा होता है। कर्मशास्त्र ने इन अहैतुक आवेगों पर भी विचार किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि निमित्तों के मिलने पर या परिस्थितियों के कारण हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भय-वेदनीय कर्म का प्रबल उदय होता है और जब वे कर्म-परमाणु इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं तो शोक या चिंता पैदा हो जाती है। जब शोक-वेदनीय कर्म के परमाणु तीव्रता से उदय में आते हैं, तब बिना कारण ही मन में शोक छा जाता है। क्रोध-वेदनीय के प्रबल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को 'अप्रतिष्ठित क्रोध' कहा गया है। अप्रतिष्ठित क्रोध का अर्थ है—अकारण उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, कारण नहीं है, निमित्त नहीं है। उसका हेतु केवल कर्म के उदय की प्रबलता मात्र है। क्रोध-वेदनीय के परमाणु एक साथ इतनी प्रबलता से उदय में आ गए कि व्यक्ति बैठे-बैठे ही गुस्से में आ गया। दैनंदिन जीवन में हम ऐसी अवस्थाओं का अनुभव करते रहते हैं।

सब-कुछ सकारण ही नहीं होता, अकारण भी बहुत-कुछ होता है। अनेकांत की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे बाह्य कारण की अनिवार्यता नहीं है। कहीं-कहीं कारण स्वगत भी होता है, अलग कारण नहीं भी होता। अर्थात् वहां कार्य और कारण दो नहीं होते। अचानक उभरने वाले क्रोध में कोई बाहरी कारण नहीं होता, उसका कारण स्वयं में समाहित है। क्रोध-वेदनीय का उदय ही क्रोध का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है, कोई परिस्थिति नहीं है, कोई निमित्त नहीं है—ऐसा भी घटित होता है। कर्म-शास्त्रीय व्याख्या के संदर्भ में हम परिस्थितिवाद को सार्वभौम सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। यह निमित्त का अस्वीकार नहीं है, परिस्थिति का अस्वीकार नहीं है। जैसी परिस्थिति होती है, व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। इस बात में सचाई है, किंतु पूरी सचाई नहीं है।

जब हम सापेक्षवाद के आधार पर चिंतन करते हैं तो पूरी सचाई की बात किसी एक बात में हो ही नहीं सकती। वह सब अपूर्ण सत्य है। परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किंतु परिस्थिति ही सब-कुछ है, परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है, हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है—ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकांततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोड़ा नहीं जा सकता, वह कभी टूट नहीं सकता। वह आगे-से-आगे घूमता रहता है। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? यह भी तो एक चक्र है। क्योंकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होकर घटित है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है?

कर्म की स्वीकृति भी ऐकांतिक नहीं है। सब-कुछ कर्म से ही घटित होता है—यह स्वीकृति उचित नहीं है। सब-कुछ कर्म से नहीं होता। कुछ ऐसी भी स्थितियां हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होतीं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं होतीं।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि से ग्रसित है। उसका मिथ्यादर्शन अनादि है। वह प्रत्येक तत्त्व को मिथ्यादृष्टि से देखता है। सत्य के प्रति उसकी दृष्टि सही नहीं है। जब अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व के चक्र को कैसे तोड़ पाएगा? किंतु आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नहीं होती। यदि कर्म का पूरा साम्राज्य भी हो जाए तो भी वह उसे कभी मिटा नहीं सकता। उसे तोड़ नहीं पाता। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसीलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है, जब तक कि आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत न हो जाए, जानने का क्षण प्राप्त न हो जाए।

किसी भी राष्ट्र में विदेशी शासन तब तक चलता है, जब तक उस देश या राष्ट्र की जनता जागृत नहीं हो जाती। दुनिया के किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यही हुआ है। विदेशी शासकों ने तब तक शासन किया जब तक कि वहां की जनता जाग न गई या वहां की जनता को जगाने वाला कोई व्यक्ति नहीं हो गया। जिस क्षण जनता जाग जाती है या जगाने वाला व्यक्ति, प्राण फूंकने वाला व्यक्ति प्राप्त हो जाता है तब विदेशी शासन चल नहीं सकता, उसकी जड़ें हिल जाती हैं, उसे अपनी सत्ता समेट लेनी पड़ती है।

काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। एक काल आता है, एक समय आता है, एक क्षण आता है कि उस क्षण में, काललब्धि के कारण आत्मा सहज रूप में जाग जाती है। उसमें अपने अस्तित्व की जागरूकता का भाव आ जाता है। उस क्षण में मिथ्यात्व का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य पहली बार हिल उठता है और धीरे-धीरे उसकी जड़ें टूटने लगती हैं।

यदि सब-कुछ ही कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की पूर्ण सत्ता होती, कर्म का सार्वभौम साम्राज्य होता तो कभी इस चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता। हम इस बात को याद रखें कि यदि सब-कुछ परिस्थिति के द्वारा नहीं होता तो सब-कुछ कर्म के द्वारा भी नहीं होता। इस दुनिया में किसी को अखंड या एकछत्र साम्राज्य प्राप्त नहीं है। सबके लिए अवकाश है। काललब्धि को भी अवकाश है। इसी काललब्धि के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाएं घटित होती हैं।

हम एक घटना को समझें। यह घटना है—वनस्पति जीवों के अक्षयकोष से निकलकर विकासशील जगत में आना। प्राणी-जगत की दो राशियां हैं—एक है व्यवहार-राशि और दूसरी है अव्यवहार राशि। अव्यवहार-राशि वनस्पति का वह खजाना है, जो कभी समाप्त नहीं होता। उसमें अनंत-अनंत जीव रहते हैं। यह जो दृश्य जगत है, इसमें जितने भी जीव आते हैं, वे सब अव्यवहार-राशि से निकलकर आते हैं। अव्यवहार-राशि सूक्ष्म जीवों की राशि है। यह अक्षय कोष है। यह कभी समाप्त नहीं होता। अनंत काल में भी समाप्त नहीं होता।

दूसरी राशि है—व्यवहार-राशि। यह स्थूल प्राणियों का जगत है। जो कोई भी जीव मुक्त होता है, वह व्यवहार-राशि से मुक्त होता है। अव्यवहार राशि में पड़ा हुआ जीव कभी मुक्त नहीं होता। वहां से कोई मुक्ति की ओर नहीं जाता। मुक्त होने के लिए उसे व्यवहार-राशि में आना पड़ता है। हमारे चैतन्य का जितना विकास होता है, वह व्यवहार-राशि में ही होता है। अव्यवहार-राशि में किसी का विकास नहीं होता। वहां केवल एक इंद्रिय—एकमात्र स्पर्शनेंद्रिय होती है। वे सब वनस्पति जीव हैं। यह वनस्पति के जीवों का अनंत कोष है। इससे जीव निकलते हैं पर यह कभी खाली नहीं होता। यहां केवल एक इंद्रिय की चेतना का विकास होता है। आगे विकास नहीं होता। न मन का विकास, न इंद्रियों का विकास और न बुद्धि का विकास। कोई विकास नहीं। केवल स्पर्शनेंद्रिय—त्वचा का विकास, प्रगाढ़ मूर्च्छा, प्रगाढ़ निद्रा। जो चैतन्य प्राप्त है, उसका सूचक है स्पर्शन-इंद्रिय, और कुछ भी नहीं।

इस अव्यवहार-राशि से कुछ जीव व्यवहार-राशि में आते रहते हैं। क्यों आते हैं—यह एक प्रश्न है। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो वे वहां से निकल ही नहीं पाते। किंतु काललब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलकर व्यवहार-राशि में आ जाते हैं। काल की शक्ति असीम होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलते हैं। यदि कर्म के आधार पर निकलते तो जैसे दस जीव निकलते हैं, वैसे ही सौ-हजार जीव भी निकल जाते हैं। लाख और करोड़ भी निकल आते हैं। अनंत भी निकल आते हैं। किंतु वे कर्म की शक्ति से नहीं निकलते। वे निकलते हैं काल की शक्ति से, काललब्धि से।

व्यवहार-राशि के जीवों की दो श्रेणियां हैं—एक है कृष्णपक्ष और दूसरी है शुक्लपक्ष। कुछ जीव हैं कृष्णपक्ष वाले और कुछ जीव हैं शुक्लपक्ष वाले। जैसे चंद्रमा के पक्ष होते हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद—वैसे ही हमारे जीवन के भी दो पक्ष हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद। कृष्णपक्ष हमारे अनिष्ट कर्मों का सूचक है, अनिष्ट वातावरण का सूचक है, तामस वृत्तियों का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बंधनमुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है।

जो व्यक्ति कृष्णपक्ष में है, वह आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो शुक्लपक्ष में है। उसका जो वातावरण है, उसकी जो ओरा है, आभा-मंडल है, पर्यावरण है—वह शुक्ल हो जाता है। उस व्यक्ति के आस-पास शुक्लता का वातावरण छा जाता है। वह व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है। उसका विकास प्रारंभ हो जाता है।

एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में क्यों आता है? कैसे आता है? इसका कोई हेतु नहीं है। कर्म एकमात्र कारण नहीं है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आने का हेतु है—काललब्धि। काल की शक्ति में ऐसा होता है।

जैसे परिस्थिति की एक शक्ति है, वैसे काल की भी शक्ति है। इसी प्रकार स्वभाव की भी एक शक्ति होती है। आध्यात्मिक विकास के बीज प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं। किंतु कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास का स्वभाव ही नहीं होता। उनमें चैतन्य तो होता है, चैतन्य के विशिष्ट विकास की क्षमता उनमें नहीं होती। आप पूछ सकते हैं कि क्यों नहीं होती? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। कर्मशास्त्र की व्याख्या में इसका कोई समाधान नहीं है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है, एक ही समाधान हो सकता है कि उन जीवों का स्वभाव ही ऐसा हो सकता है कि चैतन्य का विकास नहीं कर पाते। उनमें चैतन्य का विकास नहीं होता। यह स्वभाव की शक्ति का उदाहरण है। जैसे काल की अपनी शक्ति है, वैसे ही स्वभाव की अपनी शक्ति है। जैसे परिस्थिति की अपनी शक्ति है, वैसे ही कर्म की शक्ति है।

हम इस धारणा को निकाल दें कि जो-कुछ होता है वह सब कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सब-कुछ कर्म से नहीं होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा में आती हैं, वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सब घटनाएं कर्म के द्वारा घटित नहीं होतीं। आज एक ऐसा स्वर चल पड़ा है कि 'भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किए थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या बुरी, हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का ही प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। यह भ्रांति है, बहुत बड़ा भ्रम है। हम एकाधिकार किसी के हाथ में न सौंपे। प्रकृति के साम्राज्य में अधिनायकवाद नहीं है। जागतिक नियम में कोई अधिनायक नहीं होता, कोई अधिनियंता नहीं होता। वहां किसी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थिति में और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे अपने पुरुषार्थ में निहित हैं। इस पुरुषार्थ में कर्म को बदल देने की शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है—पुरुषार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है—पुरुषार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी बदल डालते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मों को बदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। यहां सबका मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नहीं, बंटा हुआ है सारा अधिकार। विभक्त है अधिकार।

यदि कर्म ही सब-कुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में नहीं आता, अविकसित प्राणियों की श्रेणी से विकसित प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो साधना की अयोग्य स्थिति से या अपने अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो प्राणी बंधन को तोड़कर कभी मुक्त नहीं होता।

कर्म ही सब-कुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं।

अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में आना, अविकास से विकास की ओर बढ़ना, चैतन्य की अविकसित भूमिका से ऊर्ध्वारोहण कर विकसित चैतन्य की भूमिका को प्राप्त करना, बंधन को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण से अनावरण की ओर बढ़ना, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता को प्राप्त करना—तभी संभव है जब काललब्धि का पूरा परिपाक हो जाता है। अन्यथा प्रश्न ज्यों-का-ज्यों खड़ा रह जाता है कि जब सौ व्यक्ति मुक्त हो सकते हैं तो सब मुक्त क्यों नहीं हो सकते? सब मुक्त हो सकते हैं। मुक्त होने का सबको अधिकार है। किंतु सब मुक्त नहीं हो सकते। जिनकी काललब्धि पक चुकी है, वे ही मुक्त हो पाते हैं। शेष काललब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमें सब-कुछ पुरुषार्थ से होता है—ऐसा भी नहीं। सब-कुछ कर्म से होता है—ऐसा भी नहीं।

हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोह कर्म। एक अज्ञान और एक मोह—ये प्रभावक तथ्य हैं जीवन के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही जान नहीं पाते। अंतराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण हम सही नहीं देख पाते। मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी, शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।

दृष्टि में कोई विकार उत्पन्न करता है तो वह मोह कर्म करता है। आचरण की विकृति मोह कर्म के कारण होती है। मोह कर्म केंद्रीय कर्म है। आगम सूत्रों में इसे सेनापति की संज्ञा दी गई है। जैसे सेनापति के मर जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह कर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे कर्म टूट जाते हैं। मोह को सहयोग देने वाले दो तथ्य हैं। एक है—ममकार और दूसरा है अहंकार।

अनात्मीय वस्तुओं में आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जो आत्मीय नहीं है, उसमें आत्मीयता का भाव

शेष पृष्ठ 30 पर

❑

विश्व की वर्तमान परिस्थितियां, वैज्ञानिक विधि का सार्वभौम स्वीकरण, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, विश्व-एकता की चुनौती—इन सबसे सभी धर्मों में धार्मिक रचनात्मकता का आंदोलन जन्म ले रहा है। विभिन्न धर्मों के प्रगतिशील विचारक एकसाथ मिलकर सत्य और प्रेम द्वारा उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। दुनिया आज रूढ़िवादी, संकीर्ण, घिसे हुए धर्मों अथवा प्रकाश से डरने वाली धर्मोन्मत्तता को नहीं, वरन् एक रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म को पाना चाहती है। इस धर्म का विज्ञान की प्रवृत्ति के प्रतिकूल न होना आवश्यक है। इसे मानववादी आदर्शों को प्रोत्साहित करने वाला और विश्व-एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म : विज्ञान व प्रौद्योगिकी

❑ डॉ. एस. राधाकृष्णन्

हमारे मन में यह मानने की भावना उठती है कि टेक्नॉलॉजी की प्रगति ही वास्तविक प्रगति है और भौतिक सफलता ही सभ्यता का मापदंड है। यदि पूर्वीय देशों के निवासी मशीनों और तकनीक के प्रति आकर्षित हों और पश्चिमी राष्ट्रों के समान उनका उपयोग विशाल औद्योगिक संस्थानों या सैनिक संस्थाओं की स्थापना में करने लगें तो वे शक्ति-राजनीति में उलझ जाएंगे और मृत्यु का खतरा मोल ले लेंगे। वैज्ञानिक और टेक्नॉलॉजिकल सभ्यता में अच्छे अवसर और अच्छी संभावनाएं हैं और साथ ही बड़े-बड़े खतरे और लालच भी हैं। मशीनों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तो हमारी संपूर्ण प्रगति व्यर्थ हो जाएगी। हमारे सामने की समस्या सार्वभौम है। पूर्व और पश्चिम—दोनों के सामने एक ही खतरा है और दोनों का भविष्य समान है। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी न अच्छे हैं, न बुरे। आवश्यकता उन्हें निषिद्ध करने की नहीं वरन् नियंत्रित रखने और उचित स्थान पर स्थापित करने की है। वे प्रभु हो जाएं तभी खतरा है।

उस सुदूर धुंधले अतीत से लेकर, जब मानव ने पहला पत्थर का औजार बनाया था, सारे युगों को पार करते हुए आज तक—जब मानव ने सारे संसार पर रेडियो का जाल बिछा दिया है और आकाश से बम गिराकर दुनिया-भर के शहरों का विनाश करने की योजनाएं बना डाली हैं—मानव जीवन की यात्रा भौतिक विजय और यांत्रिक उपलब्धियों की कहानी है। कलम, कूंची, पहिया, फावड़ा, हल, नाव, 'लीवर', घिर्री, इंजन, अंतर्ज्वलन-इंजन क्रमिक विकास के अंग हैं। सैद्धांतिक रूप में नाभिकीय भंजन की क्रिया अग्नि के आविष्कार से भिन्न नहीं है। मशीन पदार्थ पर मस्तिष्क की विजय का प्रतीक है। वह स्वयं अपने में ही उद्देश्य नहीं। वह है एक उपकरण, जिसका आविष्कार मानव ने अपने आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए किया था। हमारे आदर्श ही गलत हों तो इसकी जिम्मेदारी हम पर है, मशीनों पर नहीं। हमारे आदर्श सही हों तो मशीनों का उपयोग अन्याय के निवारण, मानवता की दशा को सुधारने और आत्मा की परिपक्वता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक हो सकता है। मोटरकार में ऐसी कोई बात नहीं है कि हम उसे तेजी से चलाकर पैदल आदमी को मार डालें। विमान में ऐसी कोई बात नहीं है जो हमें अपने सहयोगियों पर बम गिराने को बाध्य कर दे। मशीनों में स्वयं कोई बुराई नहीं। उनके बुरा साबित हो जाने का कारण यही है कि हम स्वयं दुष्ट हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि दैनिक जीवन में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग ही हमारी परिस्थिति का खतरा है। ऐसा कहकर वे वास्तव में आधुनिक सभ्यता की अत्यधिक तेज रफ्तार, जीने की प्रतियोगिता से संबंधित चिंता, जीवन

की अनिश्चितता, अनेक कामगरों के जीवन की शुष्कता और एकरसता—जिन्हें घंटे-पर-घंटे एक ही तरह के काम मशीनों की तरह करने पड़ते हैं—हमारे मनोरंजनों की उत्तेजक प्रवृत्ति और बेहद तेज रफ्तार व कान के पर्दे फाड़ने वाली आवाजों के प्रति लगाव की ओर इशारा करते हैं।

श्रम की बचत करने वाली पुरानी तरकीबों का उपभोग मानव की शक्ति के भीतर ही किया जाता था। मानवीय नियंत्रण से मुक्त हो जाने के बाद टेक्नॉलॉजी अपना अर्थ खो बैठती है और उद्देश्य पर उपायों की विजय हो जाती है। औद्योगिक क्रांति से पहले, आदमी मशीनों को नियंत्रित करके वस्तुएं तैयार करते थे। वे अपनी कुशलता का प्रयोग करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। अपने काम को वे धर्म के समतुल्य समझते थे। ऐसे काम के बारे में हीगेल का कथन है : 'नृत्य के अंग-चालन से लेकर स्थापत्यकला की विस्मयजनक विशालकाय कृतियों तक...ये सारे काम यज्ञ की श्रेणी में आते हैं...क्रिया स्वयं भेंट है; इस उपलब्धि में भेंट...जो केवल एक बाह्य वस्तु न रहकर आंतरिक वस्तु हो जाती है...एक आध्यात्मिक क्रियाशीलता है और यह प्रयास, आत्मचेतनता को नकार कर अंतर्वासी और कल्पनावासी उद्देश्य की पूर्ति करता है तथा बाह्य जगत के लिए प्रस्तुत करता है।'

टेक्नॉलॉजी की सभ्यता में, जहां हम संपूर्ण के एक अंश पर ही ध्यान देते हैं, हमारे काम को आत्मा का संस्पर्श नहीं मिलता। उत्पादन की रफ्तार बढ़ाने की होड़ में, कारखानों में काम को इतने छोटे-छोटे अंशों में बांट दिया जाता है कि कुशलता अथवा बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस पुनरावृत्ति वाले काम से करोड़ों कामगार अब थक और एकरसता में डूब चुके हैं। कामगार अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति खो देते हैं और चेतना की सतह पर जीवित रहते हैं। हम मानव के सर्वश्रेष्ठ अंश का प्रकाशन नहीं करते। उच्चतर मानदंडों के लिए उत्सुक इस युग में हम सरल और पवित्र जीवन के अनिवार्य मूल्य को नजरअंदाज कर रहे हैं। किसी व्यक्ति-विशेष का महत्त्व उसकी संपत्ति से नहीं, बल्कि जीवनयापन के ढंग से आंका जाता है। भौतिक आवश्यकताओं और सांसारिक आकांक्षाओं के संदर्भ में भारत ने संतोष और आत्मसंयम के मूल्य पर जोर दिया है। इस टेक्नॉलॉजी-सभ्यता में उत्पादक या उपभोक्ता—किसी भी हैसियत से खो जाने वाला आदमी व्यक्तित्वहीन हो जाता है, अपनी जड़ें खो बैठता है, अपने स्वाभाविक संदर्भ से अलग जा पहुंचता है, और मानो शून्य व्योम में फेंक दिया जाता है। व्यक्ति के असीम मूल्य, मानव के अभिमान और अधिकारों और आत्मा की स्वाधीनता को टेक्नॉलॉजी के युग में संरक्षित रखना आसान काम नहीं है। आस्था के पुनर्जीवन—जिसका अर्थ है मानव की गहराइयों में आत्मा की परिपूर्ति और जिसमें अपने से ऊपर उठकर मानव अपनी सत्ता के स्रोत से जुड़ जाता है—से ही यह संभव है।

दुर्भाग्यवश, विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की उपलब्धियों से आकृष्ट हमारे युग के कुछ नेता मानव को एक विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक और स्वयंचालित इच्छाओं से निर्मित प्राणी समझते हैं। वे मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर तो जोर देते हैं, किंतु उसके अंतस् में उपस्थित उच्चतर पवित्रता को भूले-से लगते हैं। हमारे युग के अनेक लोगों का रोग है—आस्थाहीनता। वे आध्यात्मिक रूप से विस्थापित हैं, उनकी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ चुकी हैं। वे परंपराहीन हैं। और चूंकि उनकी जड़ें कहीं नहीं हैं, इसलिए वे गहरा अकेलापन महसूस करते हैं और फलतः कहीं भी मैत्री की तलाश करते हैं। वे फिरकापरस्त बन जाते हैं; अंतर केवल यही है कि आधुनिक फिरका किसी भी देश से बड़ा है। यह महाद्वीपों में फैला है। पृथ्वी पर स्वर्ग के नए मसीहा उन सभी निराश्रितों का शोषण कर रहे हैं, जो उद्धत हो चुके हैं या जिनमें शून्यवाद की अपरिमित निराशा घर कर चुकी है।

अपने भौतिक वातावरण को काबू में रखने की हमारी असीमित क्षमता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है स्वयं अपने और अपने सहयोगियों के साथ हमारे संबंध। विवेक की उपस्थिति हमारी मानवता की गारंटी नहीं है। मानव बनने के लिए हमें विवेक के अतिरिक्त किसी और वस्तु की आवश्यकता है।

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी को ही नई सभ्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता। वे एक सुदृढ़ नींव का निर्माण नहीं कर सकते। संभाव्य विनाश को दूर करने के लिए आवश्यक है कि हम किसी नए आधार पर जीना सीखें। हमें निश्चय ही आध्यात्मिकता की खोज करनी होगी, मानवीय व्यक्तित्व का समादर करना होगा, सभी धार्मिक परंपराओं में व्याप्त पावनता की भावना को पाना होगा और उनके उपयोग से एक नए मानव का निर्माण करना होगा, जो इस नवीन अनुभूति के साथ अपने आविष्कृत उपकरणों का प्रयोग कर सके कि वह प्रकृति को नियंत्रित करने से अधिक महान कार्यों की संपूर्ति का क्षमतावान है। मानव को मानव की, उसके भीतर की चेतना की सेवा में लौट आना चाहिए। मानवीय चेतना का ध्यान रखना आवश्यक है।

एक ओर यूरोप पर नए खतरे मंडरा रहे हैं और दूसरी ओर पश्चिमी विचारों और तकनीकी कुशलता के प्रभाव से एशिया और अफ्रीका का रूप बदलता जा रहा है। दुनिया अधिकाधिक परस्परसंबद्ध होती जा रही है और संस्कृतियों व सभ्यताओं का सम्मिलन हो रहा है। कोई विशेष जीवन-पद्धति ही एकमात्र उपाय है—ऐसा सोचना हद दरजे की आत्मकेंद्रीयता है। आवश्यक नहीं कि लोगों की विभिन्न मेधाओं को एक समान स्तर पर ला खड़ा किया जाए। वे विभिन्न गुणों को उजागर करती हैं। हमारा कार्य एक जीवन-पद्धति के स्थान पर दूसरी को ला खड़ा करना नहीं, बल्कि प्रत्येक से उसका अंश प्राप्त करना है।

पूर्व और पश्चिम में आधारभूत अंतर नहीं है। हम में से प्रत्येक पूर्वीय भी है और पश्चिमी भी। पूर्व और पश्चिम दो ऐतिहासिक या भौगोलिक धारणाएं नहीं हैं। वे हर युग में हर मानव में अंतर्हित दो संभावनाएं हैं, मानवीय चेतना के दो परिचालन हैं। मनुष्य के स्वभाव में, उसकी वैज्ञानिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच, तनातनी है। यह तनाव या हलचल विपत्ति नहीं है, चुनौती है, संभावना है।

हम में से प्रत्येक धार्मिक और बौद्धिक दोनों है। पूर्व का महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान है और पश्चिम की उत्कृष्ट धार्मिक उपलब्धियां। अधिक-से-अधिक अंतर केवल जोर देने पर है। बुद्धि और चेतना—दोनों ही मानव-प्रकृति के गुण हैं। उनमें अभी संतुलन नहीं स्थापित हो पाया है। आज आत्मा के भीतर विचारों और चेतना के बीच एक खाई है। अपने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवयवों में सामंजस्य स्थापित हो जाने के बाद ही कोई समाज स्थाई हो पाता है। ये तत्त्व विशृंखल हो गए तो सामाजिक व्यवस्था चकनाचूर हो जाती है।

हमारे युग की आशाजनक और निराशोत्पादक प्रवृत्तियां केवल पूर्व या पश्चिम में नहीं वरन् संपूर्ण संसार में व्याप्त हैं। संसार का ध्येय पूरा होने की सर्वप्रथम शर्त है कि सारे राष्ट्रों का आंतरिक नवीनीकरण हो। केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ या उसकी अन्य संस्थाओं द्वारा ही विश्व-एकता स्थापित नहीं हो सकती। अलग-अलग देशों में ही शांति-स्थापना काफी नहीं। हर बात परस्परसंबद्ध है। पूर्ण शांति से ही पूर्ण युद्ध का खतरा टल सकता है। पूर्व का धार्मिक दृष्टिकोण है—जिससे पश्चिम भी अपरिचित नहीं—कि मानव, जिसे मूल्यों का समुचित बोध है, पृथ्वी पर ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट मूर्तरूप है। विज्ञान की प्रवृत्ति को गलत समझने से इस दृष्टिकोण को बड़ा धक्का पहुंचा है, जिसकी वजह से आध्यात्मिक जीवन का बौद्धिक विनाश और रचनात्मक शक्तियों का ह्रास हो चुका है।

विभिन्न परंपराओं के संयोग के फलस्वरूप महान आध्यात्मिक पुनरुत्थान संभव हो जाते हैं। क्लीमेंट के अनुसार, ईसाई-चर्च स्वयं दो धाराओं—हेलेनीय और यहूदी—का संगम है। ईसाई-धर्म के प्रभाव से ध्वस्त हो रहा यूनानी-रोमन संसार एक नए समाज में परिवर्तित हो गया। पृथ्वी की सतह पर सभी प्राणी रहते हैं; स्थान और समय की यह चहारदीवारी सभी प्राणियों के लिए है। यही हमारा भौतिक आधार है और यही संपूर्ण मानवता की एकता को संभव करता है। मानवता की एकता अभी तथ्य नहीं है, कर्तव्य है। विचारों और उनकी अधिकाधिक संपूर्ति के कारण बौद्धिक एकता की संभावनाएं हैं। किंतु मानवीय एकता और संयोग की संभावना चेतना के गंभीर उद्घाटन के उज्ज्वल क्षणों में ही है, क्योंकि यही क्षण इतिहास में नवीन उद्भावनाओं को लाते हैं। वे ही विश्व-एकता के लिए मानवीय प्रयास के ध्येय और औचित्य—दोनों हैं। हो सकता है कि पूर्व और पश्चिम के संयोग के फलस्वरूप एक आध्यात्मिक पुनर्जागरण हो और एक विश्वसमाज बन सके, जो जन्म लेने को छटपटा रहा है।

विश्व की वर्तमान परिस्थितियां, वैज्ञानिक विधि का सार्वभौम स्वीकरण, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, विश्व-एकता की चुनौती—इन सबसे सभी धर्मों में धार्मिक रचनात्मकता का आंदोलन जन्म ले रहा है। विभिन्न धर्मों के प्रगतिशील विचारक एकसाथ मिलकर सत्य और प्रेम द्वारा उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। दुनिया आज रूढ़िवादी, संकीर्ण, घिसे हुए धर्मों अथवा प्रकाश से डरने वाली धर्मोन्मत्तता को नहीं, वरन् एक रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म को पाना चाहती है। इस धर्म का विज्ञान की प्रवृत्ति के प्रतिकूल न होना आवश्यक है। इसे मानववादी आदर्शों को प्रोत्साहित करने वाला और विश्व-एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

विज्ञान की ठीक समझ आत्मा के धर्म की सहायक है। विज्ञान स्वयंचालित प्रक्रिया-मात्र नहीं है; और न ऐतिहासिक परिवर्तन का अज्ञात कारण है। विज्ञान का विकास उन लोगों की बुद्धि पर निर्भर है जिनमें ज्ञान, कौशल और मूल्य-बोध है। मानव परमाणु का भंजन कर सकता है, इसीलिए ब्रह्मांड का स्वामी नहीं बन जाता। वह परमाणु का भंजन इसलिए कर सकता है, चूंकि उसके भीतर परमाणु से श्रेष्ठतर कुछ मौजूद है। भौतिक उपलब्धियां तो इस तथ्य की गवाह हैं कि मानव-चेतना क्या-कुछ प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त, ये उपलब्धियां कठोर मानसिक

और नैतिक अनुशासन, पक्षपातहीन सत्यनिष्ठा, समर्पण की भावना और रचनात्मक कल्पनाशीलता की सुपरिणाम हैं।

विज्ञान और धर्म का संघर्ष ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण है। बीते जमाने में वैज्ञानिकों ने धार्मिक और राजनीतिक अत्याचार सहे हैं। ग्यार्दानो ब्रूनो को चिता पर जीवित जला दिया गया था और गैलीलियो को कैद करके फांसी के लिए धमकाया गया था। आज भी, वैज्ञानिकों को राजनीतिक जांच या नैतिक बहिष्कार की धमकियां देकर सत्य कहने से रोका जाता है। नाभिकीय ऊर्जा का स्वागत आज इस रूप में नहीं किया जाता कि प्रकृति पर मानव की विजय में यह एक नए युग का आरंभ है और इसकी शक्तियां मानवता की भलाई के लिए हैं; इसके विपरीत इसे मानवता के लिए नया खतरा समझा जाता है। इसका कारण है रूढ़ राष्ट्रीयतावाद का अमित प्रभाव। वैज्ञानिकों को सारे अत्याचारों का सामना करना चाहिए। उन्हें कटिबद्ध रहना चाहिए कि वे विज्ञान की सचाई को कायम रखेंगे और इसके उचित लाभदायक उपयोगों से इसे नीचे नहीं गिरने देंगे और सभ्यता के अपने ही विनाश के लिए विज्ञान का उपयोग करने से रोकेंगे। सत्य ही ईश्वर है और सत्य की सेवा ही ईश्वर की सेवा है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

❑

जैन धर्म और सिद्धांत में 'संथारा-संलेखणा' का विशिष्ट महत्त्व है। श्रुताभ्यास से लेकर सभी प्रकार की तपस्याओं में 'संथारा-तप' को उत्कृष्टतम स्थान प्राप्त है। ठीक इसके विपरीत 'अनशन' को लेकर आत्म-हत्या जैसी बात भी आ जुड़ती है और जब-तब विवाद और चर्चाएं छिड़ जाती हैं। ऐसी ही चर्चा पिछले दिनों फिर देश में छिड़ी। यह चर्चा तो थी 'मरने के हक' को लेकर, लेकिन 'संथारा' का प्रसंग इस चर्चा में भी आ उपस्थित हुआ। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उपवास और अनशन अनेक बार किए, कई बार आत्म-शुद्धि के लिए तो कई बार सद्बुद्धि और शांति की चाह में। आचार्य विनोबा भावे ने देह-मुक्ति के लिए उपवास या 'संथारा' तप का ही आलंबन लिया।
मरने का हक या अनशन आदि में और संथारा-तप में आखिरकार क्या बुनियादी अंतर है तथा शास्त्रीय स्तर पर हमारी परंपरा में 'संथारा' का क्या स्थान है—इन सभी पक्षों पर इस आलेख में एक विहंगम दृष्टि—

जैन दर्शन में अनशन का मूल्य

❑ मुनि मदनकुमार

जीवन के दो छोर हैं—जन्म और मृत्यु। जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि संबंध है। संसार की ये दोनों अवश्यंभावी घटनाएं हैं। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है, उसका पुनर्जन्म भी होता है।[1] इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र निरंतर चलता रहता है। इस चक्र में फंसी संसारी आत्माओं को नाना क्लेश और दुख भोगने पड़ते हैं। जन्म-मरण ही संसार का स्वरूप है और ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जन्म दुख है, बुढ़ापा दुख है, रोग दुख है और मृत्यु दुख है। अहो! संसार दुख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।[2] किंतु कषाय से रंजित और विषय-वासनाओं में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को नहीं समझ पाते। इसलिए जब कोई पैदा होता है तो उसका जन्मोत्सव मनाकर हर्ष प्रकट करते हैं और जब कोई मरता है तो मृत्यु महोत्सव न मनाकर शोक एवं दुख प्रकट किया जाता है। संसार का यह क्रम चिरकाल से चला आ रहा है। किंतु संसार-विरक्त व्यक्तियों की वृत्ति इससे विपरीत होती है।

अध्यात्म के क्षेत्र में मृत्यु को महोत्सव का रूप दिया गया है। हठधर्मी व्यक्ति अपनी मृत्यु को उत्सव के रूप में देखता है और उसके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करता है। जैन दर्शन में मृत्यु के दो प्रकार बतलाए गए हैं—अकाम-मरण और सकाम-मरण।[3] जो व्यक्ति विषयासक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता, किंतु आयुष्य पूर्ण होने पर वह मरता है, उसका मरण विवशता की स्थिति में होता है—इसलिए उसे अकाम-मरण कहा जाता है। यह व्रतशून्य व्यक्ति का मरण है, इसलिए बाल-मरण भी कहा जा सकता है। जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मृत्यु-काल में भयग्रस्त नहीं होता, किंतु उसे जीवन की भांति

> *मृत्यु-महोत्सवकार तो यहां तक कहते हैं कि समस्त श्रुताभ्यास, तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर संलेखना-मरण या समाधि-मरणपूर्वक शरीर त्याग करता है। जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अंत समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है। बहुत काल तक किए गए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरंतर अभ्यास किए हुए शास्त्र-ज्ञान का एकमात्र फल शांति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।*

उत्सव रूप मानता है, उस व्यक्ति के मरण को सकाम-मरण कहा जाता है।[4] यह व्रताराधक का मरण होने से पंडित-मरण भी कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि सकाम-मरण मृत्यु-महोत्सव है, किंतु इसकी विलक्षणता को समझने के लिए अध्यात्म-दृष्टि चाहिए। सकाम-मरण की महत्ता को समझना कठिन नहीं है। जिसके भीतर क्षायोपशमिक भाव का विकास होता है—वह उसे सहजता से समझ लेता है। यथार्थ में सांसारिक जन संसार के नाना चेतनाचेतन पदार्थों को आत्मीय समझते हैं, अतः उनके छोड़नें में उन्हें दुख का अनुभव होता है और उनके मिलने पर हर्ष की अनुभूति होती है। इष्ट संयोग उन्हें जहां सुखकर लगता है, वहां वियोग दुखकर। किंतु भेद-विज्ञान की साधना करने वाला ज्ञानी पुरुष न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को ही, अपितु अपने चिरपोषित शरीर को भी बंधन मानते हैं, अतः उसके छोड़ने में उन्हें दुख न होकर प्रमोद होता है। वे अपने जीवन का परम लक्ष्य और वास्तविक निवास-स्थान मोक्ष को मानते हैं। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, त्याग, संयम, शोधन, निग्रह आदि आत्मीय गुणों को अपना यथार्थ परिवार और जीवन-धन मानते हैं। फलतः साधु-जन यदि अपने पार्थिव शरीर के त्याग को मृत्यु-महोत्सव कहें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने शरीर को नश्वर और अस्थाई आवास मानते हैं, अतः उसके छूटने में उन्हें किंचित् भी खेद नहीं होता। साधु और श्रावक—दोनों ही व्रताराधक होने से सुगति के अधिकारी होते हैं।[5]

साधु पूर्ण व्रती होने से मोक्ष या देवलोक को अवश्यमेव प्राप्त करते हैं। कदाचित वे उसी भव में समस्त कर्मों का क्षय न कर सकें तो अल्पकर्म वाले महर्द्धिक देव बनते हैं।[6] व्रत-पालन का उत्कृष्ट परिणाम है—मोक्ष और जघन्य परिणाम है—देवलोक की प्राप्ति। साधु संपूर्ण व्रत के आराधक होते हैं और श्रावक आंशिक व्रत के आराधक। वृत्तिकार के अनुसार जो व्यक्ति अपने श्रामण्य या श्रावकत्व का अविराधित रूप से पालन करता है, उसकी जघन्य परिणति सौधर्म देवलोक होती है। यह तीर्थंकरों का कथन है।[7]

जैन साधना-पद्धति में मृत्यु-महोत्सव मनाना अभीष्ट है। जीवन के साथ मृत्यु की कला की विशद व्याख्या मिलती है। सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा जीवन और मृत्यु—दोनों को सार्थक बनाया जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में जीवन का प्रारंभ नियति है, किंतु कैसे जीना—यह नियति के अधीन नहीं है। मरना भी एक नियति है, किंतु समाधि-मरण नियति पर नहीं, व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। जो संयम का मूल्यांकन करना जानता है, वही कलापूर्ण जीवन और मृत्यु का अधिकारी बनता है। मृत्यु जीवन की अवश्यंभावी घटना है, जिसका कोई अपवाद नहीं है। साधु जन अपने रुग्ण, अशक्त, कुछ क्षणों में जाने वाले और विपद्ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई अपने पुराने, जीर्ण, मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोड़ने में। जैन साधना-पद्धति में साधु और श्रावक अपने जीवन के चरम बिंदु के सन्निकट पहुंचकर समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने के लिए संलेखना और अनशन ग्रहण करते हैं और अपने शरीर में बची-खुची शक्ति का सार खींचकर मृत्यु को महोत्सव बनाने का सार्थक प्रयास करते हैं। जीवन के अवशिष्ट बहुमूल्य क्षणों को समग्र रूप से आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में नियोजित करने का यह सर्वाधिक श्रेष्ठ उपक्रम है। उत्तराध्ययन सूत्रकार ने इस चिरंतन सत्य की ओर निर्देश करते हुए लिखा—नए-नए गुणों की उपलब्धि हो, तब तक इस संयम जीवन को पोषण दे। जब वह न हो सके तब विचार-विमर्शपूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर डाले।[8] जीवन के शेषांश में अधिक जागरूकता काम्य है तथा वह जीवन के साफल्य का महत्त्वपूर्ण घटक है। सूत्रकृतांग में साधु और श्रमणोपासक—दोनों के लिए अनशन का विधान है।[9] साधु जब यह जान ले कि अब मैं पूर्व की भांति ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की विशिष्ट प्राप्ति करने में असमर्थ हूं तथा निर्जरा भी कम हो रही है, क्योंकि शरीर क्षीण है, वह बुढ़ापे से जीर्ण और रोगों से आक्रांत है, अतः अब धर्माराधना भी नहीं हो रही है—इस अवस्था में संलेखना की आराधना कर अंत में अनशन किया जा सकता है।

शरीर-धारण का उद्देश्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि है। जब वह न हो सके तो इस शरीर को संलेखना और अनशन के लिए समर्पित कर देना चाहिए। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय ही इस शरीर-धारण का उद्देश्य होना चाहिए,[10] जब इस उद्देश्य-पूर्ति में बाधा आए तो संलेखनापूर्वक अनशन कर लेना ही सर्वश्रेष्ठ प्रकल्प है। जैन श्रमण की तरह श्रावक भी अपने मरण को सुधारने के लिए लालायित रहता है तथा शारीरिक कृशता की स्थिति में संलेखना के मार्ग को स्वीकार करने का इच्छुक। वह नहीं चाहता कि शरीर का त्याग रोते-बिलखते, लड़ते-झगड़ते, संक्लेश करते और राग-द्वेष की भट्टी में जलते हुए असावधान अवस्था में हो, किंतु दृढ़, शांत, आत्मस्थ और उज्ज्वल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति में वीर

वृत्ति के साथ उसका पार्थिव शरीर छूटे। इस महान लक्ष्य की संप्राप्ति में संलेखना और अनशन का मूल्य सर्वथा निर्विवाद है।

संलेखना और अनशन का अर्थ

संलेखना शब्द सत्+लेखना—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम्यक् प्रकार से कषाय को क्षीण या कृश करने को संलेखना कहते हैं। उसके आभ्यंतर और बाह्य—दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य और अंतरंग क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यंतर संलेखना कहते हैं।[11] संलेखना काय और कषाय के कृशीकरण की अनुत्तर साधना है। युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के अनुसार मारणांतिक तपस्या का नाम संलेखना है। अंतिम आराधना को स्वीकार करने वाला साधु और श्रावक अनशन करने के लिए उससे पूर्व विविध प्रकार की तपस्याओं के द्वारा शरीर को कृश करता है, अनशन के योग्य बनाता है, उस तपस्या विधि का नाम मारणांतिकी संलेखना है। स्थानांग सूत्र में साधु और श्रावक के तीन मनोरथ महानिर्जरा और महापर्यवसान के हेतु बतलाए गए हैं, जिनमें अंतिम मनोरथ है—कब मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर, प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूंगा?[12] मैं मरण के समय अवश्य विधिपूर्वक समाधि-मरण करूंगा, इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरण-काल आने से पहले ही यह संलेखना व्रत अंगीकार करना चाहिए।[13] श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिए कि मैं अपने मरण-समय अवश्य संलेखना धारण करूंगा, क्योंकि मरण-समय प्रायः मनुष्यों के परिणाम बहुत क्लेशपूर्ण हो जाते हैं तथा कुटुंबीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूट पाता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसी के संलेखना होती है। ममत्वभाव छूटने से पाप का बंध न होने के कारण नरकादि गति का बंध भी नहीं होता, इसलिए मरण-समय अवश्य ही संलेखना करने के परिणाम रखना चाहिए। अंत समय की आराधना से चिरकाल तक की हुई सम्यक् व्रत-नियमरूप धर्माराधना सफल हो जाती है, क्योंकि उससे क्षणमात्र में दीर्घकाल से संचित पाप का नाश हो जाता है। यदि अंत समय में मरण बिगड़ जाए, अर्थात् असंयमपूर्वक या शरीर में एकताबुद्धिपूर्वक मृत्यु हो जाए तो जीवनपर्यंत की हुई धर्माराधना फलीभूत होने से वंचित रह जाती है। वस्तुतः समाधि मरण वही प्राप्त कर सकता है जो प्रारंभ से ही धर्म की आराधना में सावधान रहा है। कदापि ऐसा भी संभव है कि किसी ने यावज्जीवन धर्माराधना में चित्त न लगाया हो, किंतु अंतकाल में अपूर्व विवेक का बल प्राप्त कर समाधिमरण कर लिया और स्वर्ग के महान सुखों को प्राप्त कर लिया, किंतु यह काकतालीय न्यायवत् अत्यंत कठिन है। जैसे ताड़वृक्ष से फल टूटकर उड़ते हुए कौए के मुख में प्राप्त हो जाना कठिन है, वैसे ही संस्कारहीन जीवन में समाधिमरण पाना दुस्साध्य है। सामान्य नियम यही है कि—'चिरंतनाभ्यास निबंधनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः' अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित बुद्धि ही गुण अथवा दोषों में जाती है। इसलिए हर मनुष्य को अपना संपूर्ण जीवन धर्माराधना में लगाकर अंतिम संलेखना और समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करनी चाहिए।

संलेखना का मूलार्थ है छीलना—कृश करना। शरीर को कृश करना—यह द्रव्य (बाह्य) संलेखना है। कषाय को कृश करना—यह भाव (आंतरिक) संलेखना है। जैसे किसान खेत में हल से लकीरें खींचकर जमीन को पोली करता है वैसे ही संलेखना भी कृशीकरण की प्रक्रिया है। जैन परंपरा में अनशन से पूर्व की जाने वाली विशेष तपस्या को संलेखना कहा जाता है। आचारांग में बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूं, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार-संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे।[14] मुनि जब यह अनुभव करे कि आयुक्षय निकट है—मृत्यु सन्निकट है—तब वह आहार का परित्याग कर अनशन करे, किंतु अनशन तत्काल नहीं करना चाहिए। उसे अनशन से पूर्व संलेखना के क्रम को स्वीकार करना चाहिए। तत्काल अनशन करने से अनेक बाधाएं उपस्थित हो सकती हैं—

देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहि रिवज्जमाणाहिं।
जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरम कालंमि।।

जो साधक संलेखना के क्रम से गुजरने से पूर्व ही अनशन कर लेता है, उसके मृत्यु के समय आर्त ध्यान हो सकता है, क्योंकि भोजन न करने की अवस्था में शरीर की धातुओं का क्षय होता है और तब शरीर में अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं। यह आर्त ध्यान का एक कारण बनता है। आर्त ध्यान से बचने के लिए साधक को यावत्कथिक अनशन से पूर्व संलेखना का आलंबन लेना चाहिए।

संलेखना का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

संलेखना में क्रमशः आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न

किया—'भंते! आहार-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान ने कहा—'आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।'[15] इस प्रकार आहार-प्रत्याख्यान के दो परिणाम हैं—(1) जीवन की आकांक्षा का विच्छेद और (2) आहार के बिना संक्लेश प्राप्त न होना—बाधा का अनुभव न करना। ये परिणाम आहार-त्याग की साधना से ही प्राप्त होते हैं। आहार-प्रत्याख्यान से ममत्व की हानि तथा शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान को विकसित करने का समुचित अवसर मिलता है। आहार-प्रत्याख्यान से जीवन के प्रति निर्ममत्व और आहार के अभाव में संक्लेशरहित मनोभाव—ये दोनों सहज ही सध जाते हैं। मुनि अपनी संयम-यात्रा का निर्वहन करते-करते जब यह अनुभव करने लगे कि शरीर और इंद्रियों की हानि हो रही है, योग क्षीण हो रहे हैं, पराक्रम घट रहा है और स्वाध्याय आदि में बाधा आ रही है—तब वह शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाए। वह सोचे—मुझे जो करना था, मैं वह कर चुका हूं। मुझ पर जो दायित्व था, उसका मैंने उचित निर्वाह किया है—

निप्फाइया य सीसा, सउणी जह अंडयं पयत्तेणं।
बारससंवच्छरियं, अह संलेहं ततो करइ।।

जैसे पक्षिणी अपने अंडे को प्रयत्नपूर्वक सेती हुई उसे निष्पादित करती है, वैसे ही मैंने भी अपने गण में शिष्यों का निष्पादन कर अपने दायित्व का निर्वाह किया है। अब मरण-काल संप्राप्त है, अतः मुझे बारह वर्षों की संलेखना में लग जाना चाहिए। यह सोचकर वह तपोयोग में संलग्न हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्रकार का निर्देश है कि मेधावी मुनि मरण-काल में उद्विग्न न बने। जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या संलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्टजनित रोमांच को दूर करे, शरीर के भेद की प्रतीक्षा करे—उसकी सार-संभाल न करे।

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या कभी मरण भी अभिप्रेत होता है? आदमी मरना कब और क्यों चाहता है? इस प्रश्न का समाधान है कि जब मुनि यह देखता है कि उसकी मन, वचन और काया की शक्ति क्षीण हो रही है तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की अभिवृद्धि नहीं हो रही है, तब उसे मरण अभिप्रेत होता है। इसकी ध्वनि यह है कि मनुष्य जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे मरने के लिए भी स्वतंत्र है। मरण भी वांछनीय है। उसकी शर्त है कि वह आवेशकृत न हो। जब यह स्पष्ट प्रतीत होने लगे कि योग क्षीण हो रहे हैं, उस समय समाधिपूर्ण मरण वांछनीय है। घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी (गोगुंदा) की स्तुति में गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने लिखा था—

संयम जीवन जीवो पंडित मरण मरो,
थारै दोन्यूं हाथां लाडू खावो खुशी रे खुशी।

इस कथन से सिद्ध होता है कि संयम-जीवन और समाधिमरण दोनों ही मूल्यवान हैं। वृत्तिकार ने माना है कि मुनि मरण की आशंसा न करे, किंतु शरीर की सार-संभाल न करता हुआ मरण की प्रतीक्षा करे। मुनि के लिए मरण की आशंसा वर्जनीय है।

भगवती सूत्र में मरण के दो भेद—बाल और पंडित—किए हैं। बाल-मरण के बारह प्रकार हैं और पंडित-मरण के दो प्रकार। कुल मिलाकर चौदह भेद वहां मिलते हैं। बाल-मरण के बारह भेद हैं—

(1) वलय, (2) वशार्त, (3) अंतःशल्य, (4) तद्भव, (5) गिरि-पतन, (6) तरु-पतन, (7) जल-प्रवेश, (8) अग्नि-प्रवेश, (9) विष-भक्षण, (10) शस्त्रावपाटन, (11) वैहायस, (12) गृद्धपृष्ठ[16]।

पंडित-मरण के दो भेद हैं—

(1) प्रायोपगमन, (2) भक्त प्रत्याख्यान[17]।

समवायांग में मरण के सत्तरह भेद बतलाए हैं।[18] मूलाराधना में भी मरण के सत्तरह प्रकारों का उल्लेख है। मरण के ये सत्तरह प्रकार अध्यात्म-विकास के प्रेरणा-सूत्र बन सकते हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

(1) आवीचि-मरण—आयु-कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा प्रतिक्षण आयु की विच्युति आवीचि-मरण कहलाता है। आयु-कर्म हर संसारी जीव के प्रतिसमय उदय में आता है। आयु का वेदन और अनुभव करना जीवन का लक्षण है। प्रत्येक समय का जीवन प्रतिसमय में नष्ट होता है। यह प्रत्येक समय का मरण आवीचि-मरण कहलाता है।

(2) अवधि-मरण—जीव एक बार नरक आदि जिस गति में जन्म-मरण करता है, उसी गति में दूसरी बार जब कभी जन्म-मरण करता है तो उसे अवधि-मरण कहा जाता है।

(3) आत्यंतिक-मरण—जीव वर्तमान आयु-कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण-प्राप्त हो, फिर उस भव में उत्पन्न न हो तो उस मरण को आत्यंतिक-मरण कहा जाता है।

(4) वलन्मरण—जो संयमी जीवन-पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाता है, उसकी मृत्यु को वलन्मरण कहा जाता है। भूख से तड़पते हुए मरने को भी वलन्मरण कहा जाता है।

(5) वशार्त-मरण—दीप-कलिका में शलभ की तरह जो इंद्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु पाते हैं, उसे वशार्त-मरण कहा जाता है। यह मरण आर्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त रहने वालों के होता है।

(6) अंतःशल्य-मरण—भगवती की वृत्ति में इसके दो भेद किए गए हैं—(i) द्रव्य और (ii) भाव। शरीर में शस्त्र की नोक आदि रहने से जो मृत्यु होती है वह 'द्रव्य अंतःशल्य मरण' कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरने वाले की मृत्यु को 'भाव अंतःशल्य-मरण' कहा जाता है। मिथ्यादर्शन, माया और निदान—इन तीनों शल्यों की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म को द्रव्य शल्य कहा जाता है। द्रव्य शल्य की दशा में होने वाला मरण द्रव्य शल्य-मरण कहलाता है। यह मरण पांच स्थावर और अमनस्क त्रस जीवों के होता है। उक्त तीन शल्यों के हेतुभूत कर्मों के उदय से जीव में जो माया, निदान और मिथ्यात्व परिणाम होता है, उसे भाव शल्य कहा जाता है। इस दशा में होने वाला मरण भाव शल्य-मरण कहा जाता है।

जहां भाव शल्य है वहां द्रव्य शल्य अवश्य होता है, किंतु भाव शल्य केवल समनस्क जीवों में ही होता है। अमनस्क जीवों में संकल्प या चिंतन नहीं होता, इसलिए उनके केवल द्रव्य शल्य ही होता है। इसीलिए अमनस्क जीवों के मरण को द्रव्य शल्य-मरण और समनस्क जीवों के मरण को भाव शल्य-मरण कहा गया है।

(7) तद्भव-मरण—वर्तमान भव से मृत्यु होती है, उसे तद्भव-मरण कहा जाता है।

(8) बाल-मरण—मिथ्यात्वी और सम्यक् दृष्टि का मरण बाल-मरण कहलाता है।

(9) पंडित-मरण—संयति का मरण पंडित-मरण कहलाता है।

(10) बाल-पंडित-मरण—संयतासंयत (श्रावक) का मरण बाल-पंडित-मरण कहलाता है। स्थूल हिंसा आदि पांच पापों के त्याग तथा सम्यक् दर्शनयुक्त होने से वह पंडित है। सूक्ष्म असंयम से निवृत्त न होने के कारण उसमें बालत्व भी है।

(11) छद्मस्थ-मरण—मनःपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, श्रुत ज्ञानी और मति ज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थ-मरण कहा जाता है।

(12) केवली-मरण—केवल ज्ञानी का मरण केवली-मरण कहलाता है।

(13) वैहायस-मरण—वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने और झंपा लेने आदि कारण से होने वाला मरण वैहायस-मरण कहलाता है।

(14) गृद्धपृष्ठ-मरण—हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंचकर मार डालते हैं, उस स्थिति में जो मरण होता है, वह गृद्धपृष्ठ-मरण कहलाता है।

(15) भक्त-प्रत्याख्यान-मरण—यावज्जीवन के लिए त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान-मरण कहा जाता है।

(16) इंगिनी-मरण—प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिनी-मरण कहते हैं। जिस मरण में अपने अभिप्राय से स्वयं अपनी शुश्रूषा करे, दूसरे मुनियों की सेवा न ले, उसे इंगिनी-मरण कहा जाता है। यह मरण चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करने वाले के ही होता है।

(17) प्रायोपगमन-मरण—अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराए, ऐसे मरण को प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे पादपोपगमन-मरण कहते हैं। अपने पांवों के द्वारा संघ से निकलकर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है उसे पादोपगमन-मरण कहा जाता है।

इन सत्तरह मरणों में आवीचि-मरण प्रतिपल होता है और सिद्धों को छोड़ सब प्राणियों के होता है। शेष मरण जीव-विशेषों के होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्रकार का सूचन है कि मुनि मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्तपरिज्ञा, इंगिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम मरण से मरता है। उत्तराध्ययन सूत्र में निर्दिष्ट—'पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे' पंडित (चारित्रवान) व्यक्तियों का सकाम-मरण एक बार ही होता है। यह कथन केवली की अपेक्षा से ही है। अन्य चारित्रवान मुनियों का सकाम-मरण सात-आठ बार हो सकता है। यह भी एक सचाई है कि एक बार सकाम-मरण प्राप्त करने वाला आगे भी सकाम-मरण को ही प्राप्त करता है। उत्तराध्ययन सूत्रकार का निर्देश है कि पुण्यशाली, संयमी और जितेंद्रिय पुरुषों का मरण प्रसन्न और आघातरहित होता है।[19]

तत्त्वार्थराजवार्तिक में भट्ट अकलंक देव के अनुसार मरण दो प्रकार का है—एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है, वह नित्य-मरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव-मरण है। नित्य-मरण तो निरंतर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर शरीरांत रूप जो तद्भव-मरण है—उसका कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही संलेखना की जाती है। संलेखना से अनंत संसार के कारणभूत कषायों का आवेग उपशांत अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है। पंडित आशाधरजी के शब्दों में स्वस्थ शरीर पथ्य, आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधों द्वारा उपचार के योग्य है, परंतु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत व्याधि बढ़ती ही जाए तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। मृत्यु-महोत्सवकार तो यहां तक कहते हैं कि समस्त श्रुताभ्यास, तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर संलेखना-मरण या समाधि-मरणपूर्वक शरीर त्याग करता है। जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अंत समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है। बहुत काल तक किए गए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरंतर अभ्यास किए हुए शास्त्र-ज्ञान का एकमात्र फल शांति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।[20] आचार्य समंतभद्र की मान्यतानुसार जीवन में आचरित अनशनादिक विविध तपों का फल अंत समय गृहीत संलेखना है। अतः अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[21]

सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने संलेखना के महत्त्व और आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए लिखा—'मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के सोने, चांदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं हो सकता। यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़ आदि) कारण उपस्थित हो जाए तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता है तो घर में रखे हुए उन सोना, चांदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को, जितना संभव बने वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नों का संचय करने वाला व्रती—मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है, उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाए तो उनका वह पूरी शांति के साथ परिहार करता है। लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असंभव समझता है तो आत्म-गुणों की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है।'[22] इन उल्लेखों से संलेखना के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यही कारण है कि जैन संस्कृति में संलेखना पर बड़ा बल दिया गया है।

संलेखना का प्रयोजन, काल और विधि

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र ने उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग उत्पन्न होने पर धर्म की आराधना के लिए शरीर त्यागने को संलेखना कहा है।[23] जिसका उपाय न हो, ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि क्रूर वन्य जंतुओं द्वारा खाए जाने आदि के उपसर्ग आ जाने पर, जिसमें शुद्ध (प्रासुक-एषणीय) भोजन सामग्री न मिल सके ऐसे दुर्भिक्ष के पड़ने पर, जिसमें धार्मिक एवं शारीरिक क्रियाएं यथोचित रीति से न चल सकें ऐसे बुढ़ापे के आ जाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर धर्म की रक्षार्थ शरीर का त्याग करना संलेखना है। सच बात तो यह है कि इन उल्लिखित चार संकटावस्थाओं में—जो व्यक्ति को झकझोर देने, प्रकंपित कर देने तथा विचलित कर देने वाली हैं—आत्म-धर्म से च्युत न होना और हंसते-हंसते साम्यभावपूर्वक उसकी रक्षा के लिए अवश्य जाने वाले शरीर का उत्सर्ग कर देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं है। वह तो असाधारण व्यक्तियों की असाधारण साधना का फल है। अतः संलेखना एक असामान्य साधना है। हमें शरीर तथा आत्मा के मध्य देखना होगा कि कौन अस्थाई है और कौन स्थाई? निश्चय ही शरीर अस्थाई है और आत्मा स्थाई। ऐसी स्थिति में अवश्य नाश होने वाले शरीर के लिए अभीष्ट फलदाई धर्म का नाश नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि शरीर के नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है, किंतु नष्ट हुआ धर्म का पुनः मिलना दुर्लभ है।[24] अतएव जो शरीरमोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के अंतर को ठीक तरह से समझते हैं। आत्मा और शरीर की भिन्नता को समझने वाले ही आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं।

अध्यात्म-विकास का सूत्र है—भेद-विज्ञान। सोना और मिट्टी साथ में रहते हुए भी दोनों भिन्न हैं, इसी प्रकार आत्मा और शरीर का सहावस्थान होने पर भी उनमें भिन्नता का अनुभव करना भेद-विज्ञान है। आत्मा आत्मा है और शरीर शरीर है। इन्हें एक मान लेना मिथ्या दर्शन है और भिन्न मान लेना सम्यक् दर्शन। शरीर हेय है, नश्वर है और विजातीय है, इसलिए उसका सार खींच लेना ही अभीष्ट है। मरण-काल में आर्त और रौद्र ध्यान में न गिरकर भेद-विज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए। रोग और कष्ट आने पर यह सोचें कि वे शरीर में हैं, आत्मा में नहीं। इस प्रकार आत्म-चिंतन करता हुआ व्रती पुरुष स्वयं को संलेखना के लिए समुद्यत करे। संलेखना के साथ किसी भौतिक कामना को न जोड़े। संलेखनाधारक की संसार के किसी भोगोपभोग या इंद्रादि पद की प्राप्ति के लिए राग और अप्राप्ति के लिए द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएं नहीं होनी चाहिए। उसके भीतर सिर्फ देह-मुक्ति की ही भावना रहनी चाहिए। इसके लिए ही उसने जीवन-भर व्रत-तपादिपालन का घोर प्रयत्न किया है और अंतिम समय में भी वह उस प्रयत्न से नहीं चूकना चाहता है। अतएव संलेखना में कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए और उसे लेने में किस प्रकार की विधि अपनानी चाहिए, इस संबंध में भी जैन शास्त्रों में विस्तृत और विशद विवेचन उपलब्ध है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र ने लिखा—संलेखनाधारक को सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि प्रिय जनों से ममत्व और धनादि में स्वामित्व की बुद्धि को छोड़कर पवित्र मन होना चाहिए। उसके बाद अपने परिवार और अपने से संबंधित व्यक्तियों से जीवन में हुए अपराधों को क्षमा कराए तथा स्वयं भी उन्हें प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने अंतःकरण को निष्कषाय बनाए। सभी से क्षमा-याचना करना तथा स्वयं भी मन, वचन और कायपूर्वक सबको क्षमा कर देना आत्मोदय की दृष्टि से उत्तमोत्तम कार्य है। अंत समय में क्षमा करने वाला संसार का पारगामी होता है और वैर-विरोध रखने वाला अर्थात् क्षमा-धर्म को न अपनाने वाला अनंत संसारी होता है। भीतर के आवेग और कालुष्य को मिटाकर संलेखनाधारक को उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिए, क्योंकि साधर्मी तथा आचार्यों की सहायता से अशुभ कर्म यथेष्ट बाधा का कारण नहीं बन पाता। व्रत के अतिचारों को साधर्मिकों अथवा आचार्य के सम्मुख प्रकट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त आदि विधियों से शोधन करना चाहिए। ज्ञात दोषों का प्रायश्चित्त और अज्ञात दोषों की आलोचना करने वाला निर्भार हो जाता है। संलेखनाधारक अपने जीवन में किए, कराए और अनुमोदित समस्त हिंसादि पापों की निश्चल भाव से आलोचना (खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यंत महाव्रतों का अपने में पुनरारोपण करे। इसके साथ ही शोक, भय, खेद, ग्लानि और आकुलता को भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साह को जागृत करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों द्वारा मन को प्रसन्न रखे। 'जन्म, जरा और मृत्यु शरीर से संबंधित हैं, मुझसे नहीं हैं'—ऐसा चिंतवन करके निर्ममत्वी होकर, विधिपूर्वक आहार घटाकर अपने अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूप के लक्ष्य से काय कृश करना चाहिए और शास्त्रामृत के पान से तथा आत्मोन्मुखता द्वारा कषायों को कृश करना चाहिए।

संलेखना के तीन काल हैं—(1) जघन्य—छह मास का काल, (2) मध्यम—एक वर्ष का काल और (3) उत्कृष्ट—बारह वर्ष का काल। उत्कृष्ट संलेखना के काल में प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि विकृतियों का त्याग अथवा आचाम्ल (आयंबिल) किया जाता है। द्वितीय चार वर्षों में उपवास, बेला, तेला आदि विचित्र तप किया जाता है और पारण में यथेष्ट भोजन। नौवें और दसवें वर्ष में एकांतर उपवास और पारण में आचाम्ल किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही में उपवास या बेला तथा द्वितीय छमाही में तेला, चोला आदि विकृष्ट तप किया जाता है। समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन आचाम्ल किया जाता है। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट-भर भोजन किया जाता है। बारहवें वर्ष में कोटि सहित आचाम्ल अर्थात् निरंतर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल किया जाता है। बारह वर्ष के अंत में अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि किया जाता है।[25] निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की इस प्रकार कमी की जाती है जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अंतिम चार महीनों में मुंह में तैल भरकर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।

श्वेतांबर और दिगंबर—दोनों परंपराओं में संलेखना की सुव्यवस्थित पद्धति का निरूपण है। दोनों परंपराओं में संलेखना के विषय में थोड़ा क्रम-भेद है, किंतु यह विचारणीय नहीं है। आचार्य शिवकोटि के शब्दों में संलेखना के लिए वही तप या उसका वही क्रम अंगीकार करना चाहिए

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर-धातु के अनुकूल हो। संलेखना का जो क्रम बतलाया गया है, वही क्रम है—ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकार शरीर का क्रमशः संलेखन (तनूकरण) हो, वही प्रकार अंगीकरणीय है।

संलेखना आराधक-पद प्राप्ति का महान प्रयोग है। इससे इहलोक और परलोक—दोनों सुधरते हैं। संलेखना-धारक इससे अपने आनंद—ज्ञानधन आत्मा का संधान करता है और भावी पर्याय को वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्याय से अधिक सुखी, शांत, निर्विकार एवं उन्नत बनाने का सफल पुरुषार्थ करता है। नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन विवेकी पुरुष छोड़ने को तैयार होगा? अतएव संलेखनाधारक इन पांच दोषों से स्वयं को बचाता है—(1) जीवन की आशंसा, (2) मरण की आशंसा, (3) मित्र के प्रति अनुराग, (4) भुक्त भोगों की स्मृति और (5) अच्छे भोगों की प्राप्ति की कामना।[26]

संलेखना का फल

संलेखनाधारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करते हुए नियमतः निःश्रेयस् और अभ्युदय को प्राप्त करता है। आचार्य समंतभद्र संलेखना का फल बतलाते हुए लिखते हैं—'उत्तम संलेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण समस्त दुखों से रहित होता हुआ निःश्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है।'[27] पंडित आशाधरजी के शब्दों में—'जिस महापुरुष ने संसार परंपरा के नाशक समाधि-मरण को धारण किया है, उसने धर्मरूपी महान निधि को परभव में जाने के लिए साथ ले लिया है। जिससे वह उसी तरह सुखी रहता है जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने वाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनंत बार मरण किया है, किंतु समाधि-मरण कभी नहीं किया। वह सौभाग्य का महान सूचक है। समाधि-मरण और सकाम-मरण की तीर्थंकरों ने प्रशंसा की है। समाधि-मरण करने वाला महान आत्मा निश्चय से संसाररूपी पिंजरे को तोड़ देता है, फिर उसे चिरकाल तक संसार के बंधन में नहीं रहना पड़ता है। समाधि-मरण सचमुच आत्मोत्सव है।' सुखबोधा में आचार्य नेमिचंद्र ने लिखा—'जिनके पास तपरूपी पाथेय है, जिनकी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र विशुद्ध हैं, वे समाहित आत्मा वाले मुनि मरण को उत्सव मानते हैं—

सुगहियतवपव्वयणा, विसुद्ध सम्मत्तणाणचरित्ता।
मरणं उस्सवभूयं मण्णंति समाहिय पण्णओ।।

अनशन और उसकी अर्हता

अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर का ममत्व होता है, तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है और जब वह शरीर के ममत्व से मुक्त होता है, तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। अनशन को देह-निर्ममत्व या अभय की साधना का विशिष्ट प्रकार कहा जा सकता है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किंतु उसका गौण परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्मलीनता। सूत्रकृतांग के अनुसार शारीरिक बाधा उत्पन्न होने या न होने पर भी अनशन किया जाता है। तात्कालिक व्याघात या बाधा उत्पन्न न होने पर किया जाने वाला अनशन संलेखनापूर्वक होता है। मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके अधिकारी वे होते हैं—

(1) जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो।

(2) जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो।

(3) जो देव, मनुष्य या तिर्यंच संबंधी उपसर्गों से उपद्रुत हो।

(4) जिसके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों।

(5) दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले।

(6) जो गहन अटवी में दिग्मूढ़ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे।

(7) जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व इन जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है।[28]

अनशन के भेद

जैन शास्त्रों में शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

(1) च्युत—स्वतः आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है, वह च्युत कहलाता है।

(2) च्यावित—जो विष-भक्षण, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल-प्रवेश आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है, वह च्यावित कहलाता है।

(3) त्यक्त—जो रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता एवं मरण-काल में संलेखना या अनशनपूर्वक शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त कहलाता है।

इन तीन तरह के शरीर-त्यागों में त्यक्त शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा उसे कोई संक्लेश पैदा नहीं होता। इस त्यक्त शरीर-त्याग को ही समाधि-मरण, सकाम-मरण और वीर-मरण कहा गया है। औपपातिक सूत्र में अनशन के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान।[29] समवायांग में अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और पादपोपगमन।[30] भक्त-प्रत्याख्यान में जल वर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। इंगिनी और पादपोपगमन—इन दोनों में चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वयं भी अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से शुश्रूषा नहीं करवाता, किंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा कर सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला अपने शरीर की शुश्रूषा न स्वयं करता है और न किसी दूसरे से करवाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है। इंगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश में इधर-उधर आ-जा सकता है, किंतु उससे बाहर नहीं जा सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर लेटा रहता है या जिस आसन में अनशन प्रारंभ करता है, उसी आसन में स्थिर रहता है—हलन-चलन नहीं करता। वृत्तिकार शांत्याचार्य ने निर्हारि (उपाश्रय से बाहर गिरि-कंदरा आदि एकांत स्थान में किया जाने वाला) और अनिर्हारि (उपाश्रय में किया जाने वाला)—ये दोनों पादपोपगमन के प्रकार बतलाए हैं। किंतु स्थानांग में ये दो प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान के भी किए गए हैं। पादपोपगमन नियमतः अप्रतिकर्म है और भक्त-प्रत्याख्यान नियमतः सप्रतिकर्म है। मूलाराधना के अनुसार इंगिनी अनशन करने वाला उपसर्ग होने पर भी निष्प्रतिकर्म होता है—प्रतिकाररहित उन्हें सहता है।[31]

अनशन आत्महत्या नहीं

अनशन करने वाला पुरुष जिस समय अपने मरण को अवश्यंभावी जानता है तब वह अपने कषाय को घटाता है और रागादि को मिटाता है इसलिए उसे आत्मघात का दोष नहीं है। उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबरदस्ती से मरण प्राप्त करूं, अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात् रूप से मरण होने ही लगे, तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें और मैं सांसारिक विषय-भोगों से ममत्व त्याग दूं। उसके मरण में यदि राग-द्वेष हो तो आत्मघात होता है, किंतु जो मनुष्य राग-द्वेष का त्याग कर रहा है, उसे आत्मघात नहीं हो सकता।[32] जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों की तीव्रता से, इष्ट-वियोग के खेद से या निदान के वश होकर अपने प्राणों का घात करता है, उसको ही आत्मघात का दोष लगता है। आत्महत्या में निराशा, आवेश या हीनता की मनोवृत्ति पाई जाती है और वह संसार से खिन्न तथा क्षुब्ध होकर इहलीला को समाप्त कर देता है। आत्महत्या भयंकर आवेश और मानसिक असंतुलन का परिणाम है। वह आवेश के क्षणों में ही की जाती है। आत्महत्या गुप्त रूप से की जाती है इसलिए उसमें चौर्य वृत्ति भी है। आत्महत्या करने वाला उसे स्थगित करने में भी असमर्थ रहता है। जबकि अनशन जनता के बीच और जनता की साक्षी से प्रसन्नमना किया जाता है। उसके भावों में उत्कर्ष की स्थिति पाई जाती है। अनशन का दृश्य भी बड़ा मनोरम और प्रेरक होता है। अनशन करने वाला प्रशंसा का पात्र बनता है तथा वैराग्य का मूर्त रूप। अनशन में शौर्य और पराक्रम की उच्च स्थिति पाई जाती है। वस्तुतः अनशन जीवन और मरण की भावना से उपरत होकर किया जाता है। अनशन के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने लिखा—'मृत्यु की कामना से अनशन न करे। अनशन लक्ष्य की सिद्धि के लिए होना चाहिए। अनशन में मृत्यु अवांछनीय होने पर भी वार्य नहीं है। मृत्यु के लिए अनशन नहीं होना चाहिए।' अनशन के पीछे एकमात्र आत्म-शोधन की प्रेरणा निहित है। यदि वह लक्ष्य ओझल हो जाए तो अनशन के स्वरूप में भी विकृति आ सकती है। संलेखना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'संलेखना का उद्देश्य भौतिक पूजा, प्रतिष्ठा या कातर वृत्ति नहीं होना चाहिए। यदि इनमें से एक भी हो तो संलेखना न होकर स्वहिंसा या आत्महत्या हो जाती है। हिंसा चाहे स्व की हो, चाहे पर की हो, वह कषाय से संबंध रखती है। संलेखना में भी कषाय की वृत्ति हो तो वह भी हिंसा है, किंतु कषायमुक्त वृत्ति से होने वाली तथा लक्ष्य की ओर अग्रसर करने वाली संलेखना परिस्थिति के अनुकूल हो तो मेरी दृष्टि में अनुचित नहीं है।'[33] संलेखना अहिंसक शक्ति का विस्फोट है और अहिंसा का मूर्त रूप है। हिंसा का मूल कारण कषाय हैं, वे इस संलेखना में क्षीण हो जाते हैं, घट जाते हैं अतः तीर्थंकर और आचार्य भव्य जीवों के उद्धार के लिए संलेखना एवं अनशन धर्म का निरूपण करते हैं। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में आचार्य अमृतचंद्र ने कहा—

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
संलेखनामपि ततः प्राहुर हिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्।। ❖

शेष पृष्ठ 30 पर

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार

* प्रशस्ति *

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार की सलाहकार समिति, आचार्य महाप्रज्ञ, जो कि एक महान आध्यात्मिक विभूति, चिंतक, शिक्षाशास्त्री तथा अहिंसा दर्शन के समर्थ प्रवर्तक हैं, उन्हें इस वर्ष के इंदिरा गांधी पुरस्कार से पुरस्कृत करते हुए, स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रही है।

सन् 1994 से जैन धर्म के तेरापंथ धर्मसंघ तथा अणुव्रत आंदोलन के प्रमुख अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ में विचार और उसके क्रियान्वयन का अद्भुत संगम है। उनकी चिंतन प्रविधियों में प्रयोगधर्मिता, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयन में प्रखरता तथा शिक्षा में नित्यनूतन विचार उनकी प्रमुख बौद्धिक उपलब्धियां हैं। उनके द्वारा प्रेक्षाध्यान सहित अनेक विषयों पर रचित दो सौ से अधिक ग्रंथों के शीर्षक उपर्युक्त कथ्य को प्रमाणित करते हैं, जैसे—जीवन-दर्शन, नव मानव, नया विश्व, अहिंसा एवं मानव के व्यक्तिगत विकास के माध्यम से लोकतंत्र और सामाजिक विकास का दर्शन, आदि।

आचार्य महाप्रज्ञ ऐसे महाश्रमण नहीं हैं जो लोगों की समस्याओं से अपने-आप को असंबद्ध रखते हों और ना ही ऐसे जो राष्ट्रीय समस्याओं से किनारा करते हों। जब कभी राष्ट्र में सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका आई तो उन्होंने अपने शिष्यों के साथ शांति-पदयात्राओं का नेतृत्व किया। पिछले वर्ष जब सांप्रदायिकता ने गुजरात को अपने चंगुल में ले लिया तब आचार्यजी ने गांव-गांव और शहर-शहर पदयात्राएं करके लोगों को हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। अहमदाबाद, बड़ौदा, पाटन, पालनपुर, सिद्धपुर, भरूच, अंकलेश्वर, सूरत तथा अन्य स्थानों पर उन्होंने सद्भाव-सम्मेलन आयोजित किए। इससे पूर्ववर्षों में भी आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेम और सद्भावना के संदेश देने वाली अनेक पदयात्राओं को अंजाम दिया। शांति के संदेशवाहक के रूप में अभी तक आचार्यजी ने एक लाख किलोमीटर से अधिक पदयात्राएं की हैं। अक्सर उन्हें इन शांति पदयात्राओं में विरोध-प्रदर्शन, यहां तक कि पत्थरों की बौछार भी मिली, जिन्हें इन्होंने दार्शनिक अंदाज में लिया।

आपका जन्म 14 जून, सन् 1920 में राजस्थान के टमकोर नामक स्थान पर हुआ और मात्र ग्यारह वर्ष की आयु में आप 'श्रमण' बने और आपको नाम दिया गया—मुनि नथमल। मुनि नथमल ने जैन आगमों का गहन अध्ययन किया, भगवान महावीर का अहिंसा संदेश आपकी विचारधारा का आधार बना। आपका चिंतन स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी और बाद में आचार्य विनोबा भावे से भी प्रभावित रहा। सौभाग्य से आपको आचार्य तुलसी जैसे महान् अनुशास्ता गुरु के रूप में मिले, यह संबंध आजीवन चलता रहा। सन् 1949 में अणुव्रत आंदोलन की स्थापना आपके जीवन का महत्त्वपूर्ण क्षण है। आधुनिक विज्ञान, इतिहास तथा सामाजिक विज्ञानों की दृष्टि से परिपुष्ट भारतीय दर्शन तथा साहित्य का गहन अध्ययन मुनि नथमल की विशेषता है। सन् 1968 में आपको 'महाप्रज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया गया। सन् 1979 में तेरापंथ धर्मसंघ के नामित युवाचार्य को सन् 1994 में आचार्य तुलसी के उत्तराधिकारी के रूप में 'आचार्य' पद पर अभिषिक्त किया गया।

शांति और मानवाधिकारों के लिए समर्पित पचास से अधिक प्रतिष्ठित संस्थाओं के आचार्य महाप्रज्ञ मार्गदर्शक तथा सचल प्राण हैं।

सन् 1993 में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार से अलंकृत आचार्य तुलसी के शिष्य आचार्य महाप्रज्ञ को उसी पुरस्कार से अलंकृत करना सर्वथा उपयुक्त है। राष्ट्र और उसके कल्याण के लिए आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा की गई बहुमुखी सेवाओं के प्रति यह पुरस्कार कृतज्ञता-ज्ञापन के प्रतीक रूप में है। ❖

अहिंसा से समस्याओं के समाधान

आचार्यश्री महाप्रज्ञज

धर्म के तीन आयाम हैं––अध्यात्म, नैतिकता एवं उपासना। वर्तमान समय में उपासनात्मक धर्म अधिक प्रचलित हैं। अध्यात्म व नैतिकता को विस्मृत किया जा रहा है, इसलिए समाज में विकृतियां बढ़ रही हैं। आवश्यकता है धर्म को अध्यात्म से जोड़ा जाए। ऐसा होने पर समाज में नैतिकता स्वयं परिलक्षित होने लगेगी।

एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा में गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताड़ित है। मेरी आदिम, मध्यम और अंतिम आकांक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योगदान दूं।

समस्या का समाधान जीवित और जागृत धर्म से हो सकता है। वह शब्दों के प्रपंच में बंधा हुआ नहीं होता, किंतु प्रयोगात्मक होता है। प्रयोग के द्वारा चेतना का रूपांतरण किया जा सकता है और उस रूपांतरित चेतना से ही जीवित धर्म प्रकट होता है। प्रेक्षाध्यान एवं जीवन विज्ञान के प्रयोगों के सफल परिणाम इसके साक्ष्य हैं। विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं वरन् सहायक है। अध्यात्म व विज्ञान के समन्वय से धर्म का तेजस्वी रूप प्रकट हो सकता है। हिंसा व आतंकवाद मौजूदा युग की प्रमुख समस्या है। शिक्षा प्रणाली में मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के प्रयोगों को जोड़कर मानव मस्तिष्क में मौजूद पाश्विक वृत्तियों को तिरोहित कर हिंसा व आतंकवाद को जड़मूल से समाप्त किया जा सकता है।

'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार' (वर्ष 2
31 अक्टूबर '03 को सोनिया गांधी ने आचार्यश्री
में अर्पित किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने व
'लोकेश' ने वहां पढ़ा—कहा कि अध्यात्म के
स्थितप्रज्ञ या वीतराग मनोदशा में जीना चाहत
तिरस्कार दोनों में सम रहने के चित्त का निर्माण क
की इसी भावना के अनुरूप मुनि श्री लोकप्रकाश
मंच पर बुलाया साध्वीश्री मोहनकुमारी और सम
प्रशस्ति पत्र ग्रहण किया। उपस्थित जन-समुद
आह्लादित भी। कई प्रदेशों के राज्यपाल, मुख्यमंत्री
के ख्यातनाम प्रबुद्ध जन भी इस समारोह में उपस्
से भी अनेक जन इस समारोह में उपस्थित हुए।

महात्मा गांधी के अहिंसात्मक प्रयोगों से भी मैं प्रभावित रहा हूं। फलस्वरूप आध्यात्मिक, नैतिक और मानवीय मूल्यों के प्रति मेरा समर्पण बढ़ता गया और उस क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिलता गया।

मेरा सर्वाधिक अनुभव अध्यात्म के क्षेत्र का है। उस क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति स्थितप्रज्ञ अथवा वीतराग की मनोदशा में जीना चाहता है। उसके लिए पुरस्कार और तिरस्कार दोनों में सम रहने के चित्त का निर्माण करना होता है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति ने जो निर्णय किया है, उसे मैं पुरस्कार की भाषा में नहीं देखता किंतु मूल्यांकन की भाषा में देखता हूं। आचार्य तुलसी ने इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार को नैतिक और आध्यात्मिक कार्य के मूल्यांकन की दृष्टि से स्वीकार किया था। उसी दृष्टि से मैं इसे स्वीकार करता हूं। अकिंचन और अपरिग्रह मुनि के लिए राशि को स्वीकार करना संभव नहीं है। उसकी सार्थकता के लिए शिक्षा का बहुत व्यापक क्षेत्र है।

राष्ट्रीय एकता का उपादान है मानवीय एकता। यदि हम मानवीय एकता के प्रति जनमानस को प्रशिक्षित करें तो यह राष्ट्रीय एकता की दिशा में नया प्रस्थान होगा। वर्तमान में मनुष्य जातिवाद, संप्रदायवाद आदि अवधारणाओं से विभक्त है। उसमें नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था नहीं है। आवेश को उपशांत करने का प्रशिक्षण भी नहीं है। इस परिस्थिति में हिंसा के

समाधान का दृष्टिकोण विकसित हो
हाप्रज्ञजी का वक्तव्य

पुरस्कार' (वर्ष 2002) दिल्ली के जवाहर भवन में
ंधी ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को उनकी अनुपस्थिति
ज्ञजी ने अपने वक्तव्य में—जो मुनि श्री लोकप्रकाश
के अध्यात्म के क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति
में जीना चाहता है। उसके लिए पुरस्कार और
त्त का निर्माण करना होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी
श्री लोकप्रकाश 'लोकेश' ने बड़ी सूझबूझ के साथ
कुमारी और समणी अक्षयप्रज्ञा को और उन्होंने ही
स्थित जन-समुदाय इससे विस्मित भी हुआ और
यपाल, मुख्यमंत्री, प्रमुख राजनेता एवं विभिन्न क्षेत्रों
समारोह में उपस्थित थे। देश के अलग-अलग क्षेत्रों
उपस्थित हुए।

विषाणुओं को पनपने का मौका मिलता है। उससे मानवीय एकता और साथ-साथ राष्ट्रीय एकता भी विखंडित होती है।

लोकतंत्र में अहिंसा प्रभावित राष्ट्रीय नीति का निर्धारित होना चाहिए। उसके कुछ बिंदु हो सकते हैं—

1. हमारा विश्वास अहिंसा में है, शस्त्रीकरण में नहीं है। शस्त्र निर्माण आत्म-सुरक्षा की बाध्यता है।

2. हम विकास के लिए शांति को अनिवार्य मानते हैं।

3. हिंसा, संघर्ष, युद्ध—ये सब विकास के बाधक हैं। मानवीय एकता को खंडित करने वाले और गरीबी बढ़ाने वाले हैं।

4. जिस राष्ट्र में विभिन्न जाति, संप्रदाय और मान्यता वाले नागरिक होते हैं, वहां शासक के लिए अहिंसा नीति का प्रयोग करना आवश्यक है। वही शासक सफल हो सकता है, जो भौतिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अहिंसक नीति का प्रयोग करता है और जनता में अहिंसक नीति के प्रति आकर्षण पैदा करता है।

वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्र को जोड़कर रखने वाले तत्त्वों पर विचार करना चाहिए और इसके लिए आचार-संहिता के कुछ सूत्रों का व्यापक प्रसार भी करना चाहिए।

गुजरात के सांप्रदायिक हिंसाग्रस्त दिनों में अहिंसा की आचार-संहिता के दो नीति-सूत्रों का प्रयोग किया और उसका परिणाम काफी अच्छा रहा। वे दो सूत्र ये हैं—

1. किसी संप्रदाय के उत्सव, त्यौहार आदि का दूसरे संप्रदाय वाले अनादर न करें। यदि कर सकें तो उदारतापूर्वक सम्मान करें।

2. कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए अपराध का पूरी जाति और संप्रदाय से बदला न लें। सबको अपराधी न मानें।

सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के तरीकों पर भी हमें चिंतन करना चाहिए। हिंसा समस्या का समाधान है—यह धारणा बनी हुई है। अहिंसा से बहुत समस्याओं का समाधान हो सकता है, यह दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए। राष्ट्रीय एकता के लिए इसका विकास नितांत अपेक्षित है।

स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को आचार्यश्री तुलसी के चरित्र निर्माण और मानवतावादी दृष्टिकोण से पर्याप्त निकटता रही। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कराने के बाद मैंने अनुभव किया, श्रीमती इंदिरा गांधी में अध्यात्म के बीज भी प्रस्फुटित हैं। वे मानवीय एकता के प्रति बहुत जागरूक थीं। उनकी चेतना से जुड़ा हुआ यह पुरस्कार पूरे वातावरण को उल्लसित कर रहा है। विश्वास है इससे मानवीय मूल्यों के विकास के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं को कार्य के प्रति समर्पित होने की प्रेरणा मिलेगी। ❖

कर्मशास्त्र और समस्या के स्रोत.....पृष्ठ 13 का शेष

रखना ममकार है। जैसे—शरीर मेरा, पिता मेरा, माता मेरी, भाई मेरा, बहन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा। सबसे पहले ममकार होता है—शरीर के प्रति। यह सबसे निकट का है। फिर पिता, माता आदि के प्रति ममकार होता है। ये दूसरे नंबर में हैं। तीसरे में घर मेरा, नौकर मेरा, धन मेरा, हाथी मेरा, ऊंट मेरा, घोड़ा मेरा। इनमें ममकार होता है। यह ममकार बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है, इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि इसमें हजारों-हजारों वस्तुएं आ जाती हैं। सीमा के विस्तार का कहीं अंत नहीं आता।

कर्म आदि कारणों से प्राप्त अवस्थाओं को 'मैं' मान लेना अहंकार है। जो 'मैं' नहीं है, आत्मा नहीं है, उसे आत्मा मान लेना अहंकार है। जैसे अनात्मीय को आत्मीय मान लेना 'ममकार' है, वैसे ही अनात्म को आत्म मान लेना 'अहंकार' है। जैसे—मैं धनी हूं। अब धन कौन और मैं कौन? जो आत्मीय नहीं, उसे आत्मीय मान लिया। ये सारी अवस्थाएं वैभाविक हैं, अनेक कारणों से उत्पन्न हैं। हम कभी कहते हैं—'मैं रोगी हूं' और कभी कहते हैं—'मैं स्वस्थ हूं।' यह रोगी होना भी 'मैं' नहीं है और स्वस्थ होना भी 'मैं' नहीं है। प्रसन्न होना भी 'मैं' नहीं है और नाराज होना भी 'मैं' नहीं है। मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं प्रसन्न हूं, मैं अप्रसन्न हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं बड़ा हूं, मैं छोटा हूं, ये सब अहंकार हैं। आत्मा जो है, वह न बड़ा है और न छोटा। न रोगी है और न स्वस्थ। न प्रसन्न है और न अप्रसन्न। न सुखी है और न दुखी। फिर भी अहंकार के कारण ये सब-कुछ आरोपण चलते हैं। दृष्टिकोण और आचरण—दोनों में विकृति के बीज अंकुरित होते रहते हैं। ❖

जैन दर्शन में अनशन का मूल्य पृष्ठ 26 का शेष

संदर्भ ग्रंथ

1. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता-2-27
2. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
   अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो।।
   —उत्त. 19-15
3. संतिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणंतिया।
   अकाम मरणं चेव, सकाम मरणं तहा।। —उत्त. 5-2
4. संचिततपोधनानां नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम्।
   उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम्।। —वृहद्वृत्ति
5. ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
   भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिनिव्वुडा।।
   —उत्त. 5-28
6. स देव गन्धव्वमणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंक पुव्वयं।
   सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए।।
   —उत्त. 1-48
7. अविराहिय सामण्णस्स साहुणो, सावगस्स य जहण्णो।
   उववातो सोहम्मे भणितो तेलोक्कदंसीहिं।।—वृहद्वृत्ति
8. लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी।
   —उत्त. 4-7
9. सूयगडो—2/2/67
10. पुव्व कम्म खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।—उत्त. 6-13
11. सम्यक्कायकषाय लेखना संलेखना।—सर्वार्थसिद्धि
12. स्थानांग—3/496/3—कया णं अहं अपच्छिम मारणंतिय—संलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाण पडियाइक्खिते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि?
13. मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना संलेखना करिष्यामि।
   इति भावना परिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्।।—176, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
14. आयारो—8/105-106
15. उत्तराध्ययन—29/36
16. भगवती—2/49
17. भगवती—2/49
18. समवायांग—17/9
19. उत्तराध्ययन—5/18
20. तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
   पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना।।
   —मृत्यु महोत्सव-23
21. रत्नकरण्डक श्रावकाचार—5/2
22. सर्वार्थसिद्धि—7/22
23. उपसर्गे दुर्भिक्षे, ज़रसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
   धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। —रत्नकरण्डक श्रावकाचार—122
24. सागार धर्मामृत—8/7
25. उत्तराध्ययन—36/251-255
26. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—195
27. रत्नकरण्डक श्रावकाचार—5/9
28. मूलाराधना—2/71-74
29. औपपातिक—32
30. समवायांग—17
31. मूलाराधना—8/2043
32. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—177
33. जैन भारती, फरवरी 1952

❖❖

अनुभूति

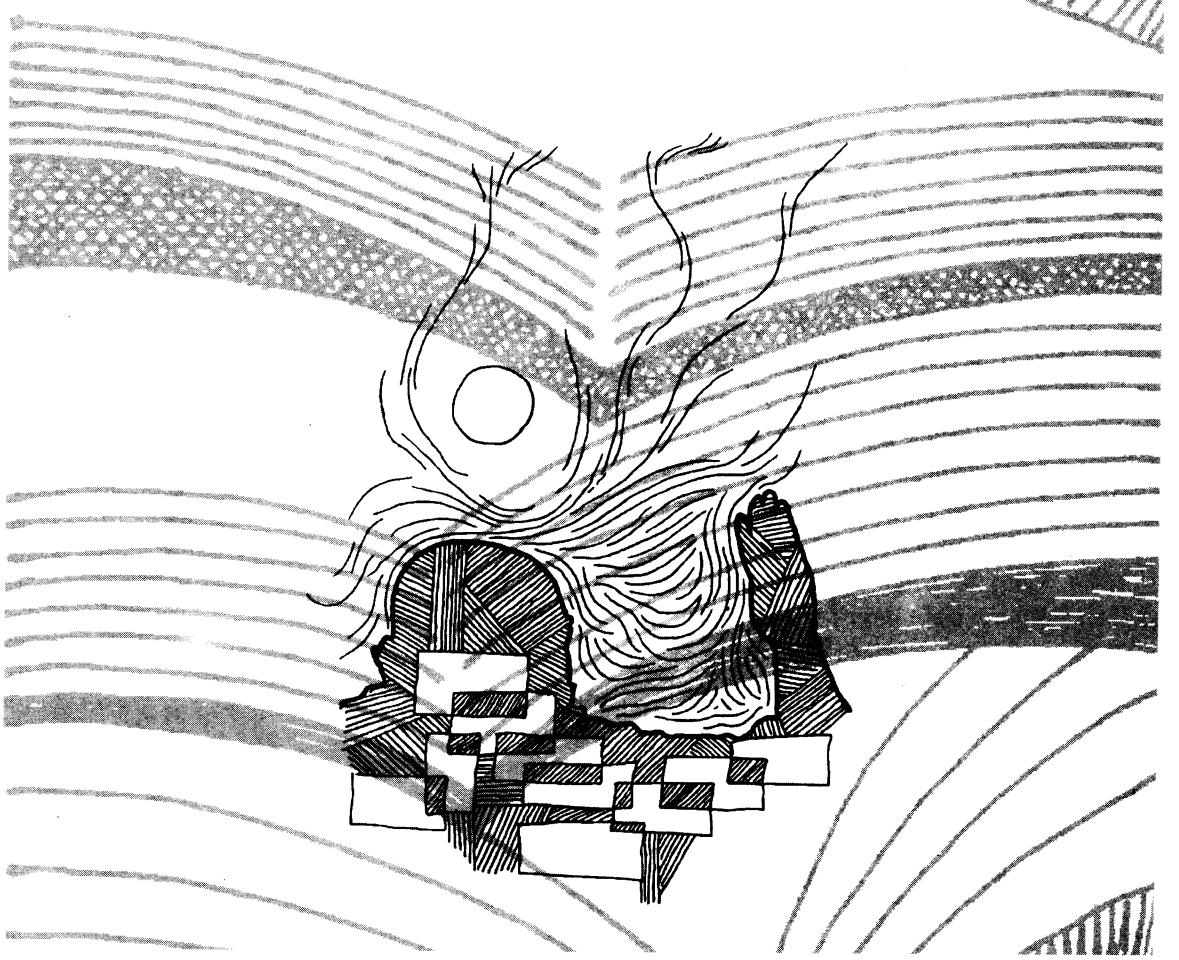

संस्कृति

और अंत में
संस्कृति है
शक्ति मेरे मन की
जो असीम है
सीमा उसे देने की
विश्वात्मक ईश्वरता को
मंदिर की...., मूर्ति की....
मृत्यु के तीर हीन सागर को
मोक्ष की...., भक्ति की....
प्रेम की...., शक्ति की....
यह संस्कृति
तार रही है मुझे
मार भी रही है मुझे।

—कुसुमाग्रज

❑

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा शाश्वत कैसे है? आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें से एक भी प्रदेश कभी खत्म नहीं होगा, कभी गिरेगा नहीं, कभी बिखरेगा नहीं। हमेशा असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा उसी रूप में रहेगी। न तो एक प्रदेश कभी ज्यादा होगा और न ही एक प्रदेश कभी कम होगा। अनंतकाल पहले भी आत्मा की यही स्थिति थी, आज भी यही स्थिति है और भविष्य में भी यही स्थिति रहेगी, इसलिए आत्मा को शाश्वत कहा जा सकता है। किंतु शरीर की स्थिति आत्मा की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। आज शरीर की जो स्थिति है, एक समय के बाद उसमें परिवर्तन आ जाएगा। शरीर में से कितने परमाणु बाहर जा रहे होंगे और कितने परमाणु भीतर आ रहे होंगे। एक समय ऐसा भी आएगा जब शरीर खंड-खंड हो जाएगा, खत्म हो जाएगा। इसलिए शरीर को नश्वर कहा जा सकता है और नश्वर भी कैसा? अज्ञात नश्वर। प्रायः पता नहीं चलता कि शरीर कब खत्म होने वाला है? अकस्मात् शरीर उत्तर दे देता है, आत्मा और शरीर का पार्थक्य हो जाता है। इसलिए आदमी को सदैव जागरूक रहना चाहिए। आत्मा पवित्र रहे, प्रज्ञा निर्मल रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

आध्यात्मिक वैभव, शरीर और आत्मा

❑ युवाचार्य महाश्रमण

अधिकार रखना आदमी की सामान्य मनोवृत्ति है। व्यक्ति सामान्यतः दूसरों पर अपना अधिकार रखने या जतलाने का प्रयास करता है। इस 'अधिकार वृत्ति' में यदि रूपांतरण कर दिया जाए और दूसरों की अपेक्षा स्वयं पर अधिकार करने का प्रयास किया जाए तो आत्म-नियंत्रण की प्रणाली का निर्माण हो सकता है।

कई प्रकार की शासन-प्रणालियां हैं—एकतंत्रीय शासन-प्रणाली, जनतंत्रीय शासन-प्रणाली आदि। शासन पद्धतियां अथवा प्रणालियां सदैव दूसरों से संबद्ध रही हैं। जहां स्वयं पर शासन करना होता है, वहां आत्मानुशासन की प्रणाली ही काम में आती है। अध्यात्मनीति और राजनीति में यही अंतर है। राजनीति का सूत्र है—'दुष्टस्य दंडे सुजनस्य पूजा' अर्थात् दुष्ट आदमी को दंडित किया जाना चाहिए और सज्जन का सम्मान होना चाहिए। अध्यात्मनीति में व्यक्ति स्वयं पर ध्यान केंद्रित करता है। वह अपनी ही दुष्टता और सज्जनता पर विचार करता है। शठ व्यक्ति के साथ शठता का व्यवहार करो, यह राजनीति का सूत्र हो सकता है, सामान्य आदमी के जीवन का सिद्धांत भी बन सकता है, किंतु जिसको आत्म-साधना करनी है, उस साधना में जिसे आगे बढ़ना है, वहां सूत्र होगा—'शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो'।

शत्रु कौन होता है? आगम में बताया गया—'अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ'—दुष्प्रवृत्त आत्मा ही शत्रु है और सत्प्रवृत्त आत्मा ही मित्र है। जो व्यक्ति प्रतिकूल व्यवहार करता है, अभद्रता का व्यवहार करता है, अहित करने का प्रयास करता है, उसके प्रति भी मित्रता का व्यवहार रखना बहुत बड़ी साधना है। ऐसा व्यवहार कोई महापुरुष ही कर सकता है।

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति को हाल ही में यह परामर्श दिया गया कि—'अभी आपके पास सत्ता है, क्यों नहीं अपने शत्रुओं को मिटा दें?' राष्ट्रपति का उत्तर था—'यही काम तो कर रहा हूं।' परामर्श देने वाले का प्रतिकथन था—'शत्रुओं को कहां मिटा रहे हैं, आप तो उनके साथ अच्छा व्यवहार कर रहे हैं।' राष्ट्रपति महोदय ने कहा—'मैं अपनी मित्रता के द्वारा उनकी शत्रुता को मिटाने का प्रयास कर रहा हूं।' ऐसा चिंतन किसी विरल व्यक्ति का ही हो

सकता है। अपने प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वालों के प्रति भी मित्रता का, स्नेह का, करुणा का व्यवहार विशिष्ट व्यक्ति ही कर सकता है। अगर ऊंचाई तक पहुंचना है तो चिंतन भी ऊंचा करना होगा, विचार भी ऊंचा रखना होगा और आचार को भी उन्नत बनाना होगा।

कोई आदमी अपराध करता है, अहित करता है तो गुस्सा आ जाता है। गुस्सा अपराधी पर आता है, तो अपने 'गुस्से' पर गुस्सा क्यों नहीं आता? जब अपना 'गुस्सा' अपने लिए अप्रिय बन जाए और उसे छोड़ने के लिए प्रयास शुरू हो जाए तो निश्चित ही व्यक्ति साधना के पथ पर आगे बढ़ सकता है। आदमी क्रोध करता है—उससे लाभ क्या हुआ? चिंतनशील व्यक्ति को हर कार्य में लाभ-हानि का विचार करना ही चाहिए। अमुक काम करने से मुझे लाभ क्या होगा और हानि क्या होगी? कौन-सा पलड़ा भारी है? अगर लाभ ही लाभ है, हानि नहीं है तो वह काम अवश्य करना चाहिए। लाभ अधिक और हानि कम हो, तो भी वह काम किया जा सकता है। जिस काम में हानि ज्यादा और लाभ कम हो अथवा नहीं हो तो वैसा काम चिंतनशील व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

अल्पस्य हेतोः बहु हातुमिच्छन्,
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

वह आदमी मूढ़ होता है अथवा विवेकशून्य होता है जो थोड़े के लिए बहुत को छोड़ दे।

आदमी इस छोटे-से जीवन में बहुत-कुछ पाना चाहता है। बहुत-कुछ होना चाहता है और बहुत-कुछ करना चाहता है। वह धनवान बनना चाहता है। आदमी को यह चिंतन करना चाहिए कि जीवन का अधिकांश अथवा सारा समय धनार्जन करने में ही लग जाएगा तो आत्मा का धन-अर्जन कब होगा?

आत्मा और शरीर दो तत्त्व हैं। आत्मा शाश्वत है। शरीर नश्वर है। इस नश्वर शरीर के लिए जितना समय लगाया जाता है और जितना प्रयास किया जाता है, उतना समय शाश्वत आत्मा के लिए लगाया जाए, इस दिशा में प्रयास किए जाएं तो आदमी शीर्ष तक पहुंच सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा शाश्वत कैसे है? आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें से एक भी प्रदेश कभी खत्म नहीं होगा, कभी गिरेगा नहीं, कभी बिखरेगा नहीं। हमेशा असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा उसी रूप में रहेगी। न तो एक प्रदेश कभी ज्यादा होगा और न ही एक प्रदेश कभी कम होगा। अनंतकाल पहले भी आत्मा की यही स्थिति थी, आज भी यही स्थिति है और भविष्य में भी यही स्थिति रहेगी, इसलिए आत्मा को शाश्वत कहा जा सकता है। किंतु शरीर की स्थिति आत्मा की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। आज शरीर की जो स्थिति है, एक समय के बाद उसमें परिवर्तन आ जाएगा। शरीर में से कितने परमाणु बाहर जा रहे होंगे और कितने परमाणु भीतर आ रहे होंगे। एक समय ऐसा भी आएगा जब शरीर खंड-खंड हो जाएगा, खत्म हो जाएगा। इसलिए शरीर को नश्वर कहा जा सकता है और नश्वर भी कैसा? अज्ञात नश्वर। प्रायः पता नहीं चलता कि शरीर कब खत्म होने वाला है? अकस्मात् शरीर उत्तर दे देता है, आत्मा और शरीर का पार्थक्य हो जाता है। इसलिए आदमी को सदैव जागरूक रहना चाहिए। आत्मा पवित्र रहे, प्रज्ञा निर्मल रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

आत्मा पवित्र हो, प्रज्ञा जागृत हो तो अनेक पापों से बचा जा सकता है, साधना के क्षेत्र में विकास किया जा सकता है। निर्मलचेता व्यक्ति इस बात पर ध्यान दे कि मेरी कामना कम हो रही है या नहीं? कामना साधना में बाधक बनती है। अनियंत्रित कामना साधना में अवरोध पैदा कर सकती है। कामना पर नियंत्रण होता है तो साधना का विकास हो सकता है।

साधना के पांच सूत्र हो सकते हैं। साधना का पहला सूत्र है—**भावक्रिया**। जिस समय जो काम किया जाए, उसी में दत्तचित्त बन जाना भावक्रिया है। भावक्रिया का अभ्यास पुष्ट हो जाए तो चलते समय, बोलते समय और अन्य कार्य करते समय भी यथासंभव ध्यान का प्रयोग हो सकता है। यदि चलते समय ध्यान केवल चलने में हो, न कोई विचार, न कोई स्मृति, न कोई कल्पना हो तो चलने की क्रिया भी ध्यान बन सकती है। भावक्रिया एक जीवित क्रिया है। जहां मन अलग हो, द्रष्टा अलग हो तो वह मृतक्रिया हो जाती है। भावक्रिया के साथ किया जाने वाला कार्य अच्छे ढंग से संपन्न हो सकता है और परिणामदाई भी हो सकता है। जबकि द्रव्यक्रिया से किए जाने वाले कार्य में अवरोध पैदा हो सकता है। इसलिए कार्य की सम्यक् संपन्नता और साधना के लिए भावक्रिया की साधना आवश्यक है।

साधना का दूसरा सूत्र है—**प्रतिक्रिया विरति**। आदमी प्रतिक्रिया-मुक्त रहने का अभ्यास करे। वह बात को ध्यान से सुने, समझे, तटस्थता से उस पर चिंतन-मनन करे, न कि तत्काल प्रतिक्रिया कर दे। आदमी घटना को देखना सीख ले, जानना सीख ले, उसका ज्ञाता-द्रष्टा बने, किंतु भोक्ता न बने—यह बहुत बड़ी साधना है। जब ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास हो जाता है तो फिर प्रतिक्रिया नहीं हो सकती।

शेष पृष्ठ 43 पर

❑

जो अज्ञानी आत्माएं हैं, वे छाछ के समान तन, धन, परिजन को संभालती हैं। ज्ञानी आत्माएं आत्मा को संभालती हैं। आत्मगुणों की सुरक्षा से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। आगम ग्रंथों में ज्ञान के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में आचरण भी सम्यक् नहीं हो सकता।

श्रुताभ्यास : ज्ञान-चेतना का मार्ग

❑ साध्वी जिनप्रभा

यह जीवन अनेक द्वंद्वों का समवाय है। लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा, सुख-दुख, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता हर व्यक्ति के जीवन में आते हैं। कोई विरल व्यक्ति ही ऐसा होता होगा जिसने अपने जीवन में सदा उपलब्धियां ही हासिल की हों, अनुकूलताओं के घेरे में ही रहा हो और प्रतिकूलताओं का कभी मुकाबला नहीं किया हो। पर जिस व्यक्ति में सम्यक् ज्ञान है, वह प्रतिकूलताओं में भी अनुकूलता का दर्शन करता है। निंदा-प्रशंसा, सुख-दुख आदि को अपने ही कृत-कर्म का योग समझकर समभाव में स्थित रहता है। ठीक इसके विपरीत अज्ञानी व्यक्ति प्रतिकूलता आते ही घबरा जाता है, व्यथित हो जाता है। किसी विचारक ने बहुत सुंदर कहा है—

'सुख दुख तो इस जगत में हर कोई के होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान स्यूं मूरख भुगतै रोय।।'

यह अनुभूत वाणी ज्ञान की महत्ता को प्रकट करती है। इस दुनिया में कदम-कदम पर लुभावने भौतिक प्रलोभन बिछे हैं। यदि व्यक्ति की ज्ञान-चेतना जागृत न हो तो मीठे प्रलोभनों की चमक से उसकी आंखें चुंधिया जाती हैं और वह उनमें उलझकर अपने लक्ष्य को ही विस्मृत कर देता है।

श्रीमद् राजचंद्र के पास एक व्यक्ति आया। वह आत्मा-परमात्मा, जड़-चेतन के संबंध में चर्चा करता रहा। श्रीमद् राजचंद्र ने उसे समझाने के लिए एक रूपक काम में लिया। उन्होंने कहा—कल्पना करो कि तुम कहीं जा रहे हो। तुम्हारे एक हाथ में घी से भरा बर्तन है और दूसरे हाथ में छाछ से भरा बर्तन। तुम चल रहे हो। किसी व्यक्ति का धक्का लग गया। अब बताओ, तुम किस बर्तन को पहले संभालोगे? घी वाले बर्तन को या छाछ वाले बर्तन को? उसने कहा—मैं पहले घी वाले बर्तन को संभालूंगा, घी महंगा है। घी के आगे छाछ का मूल्य ही क्या है?

श्रीमद् राजचंद्र ने इस रूपक का हार्द समझाते हुए कहा—यही बात जड़-चेतन के संबंध में है। जो अज्ञानी आत्माएं हैं, वे छाछ के समान तन, धन, परिजन को संभालती हैं। ज्ञानी आत्माएं आत्मा को संभालती हैं। आत्मगुणों की सुरक्षा से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। आगम ग्रंथों में ज्ञान के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में आचरण भी सम्यक् नहीं हो सकता।

ज्ञान का माध्यम है श्रुत का अभ्यास। मरुदेवी माता, कूरगडुक मुनि आदि उदाहरण हैं, जिन्हें वर्तमान जीवन में बिना श्रुताभ्यास के ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, पर ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही होते हैं। सामान्यतः ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रुत का अभ्यास जरूरी है। श्रुत के अभ्यास से जो अपने चित्त को भावित करता रहता है वह ज्ञान-संपन्न बन जाता है। ज्ञान-संपन्न व्यक्ति स्व-समय एवं पर-समय का ज्ञाता बन जाता है। ज्ञान के क्षेत्र में वह प्रामाणिक पुरुष कहलाता है। बृहत्कल्प भाष्य में श्रुत के अभ्यास से निष्पन्न होने वाले आठ महत्त्वपूर्ण गुणों की चर्चा है—

'आयहिय परिण्णा भावसंवरो नव नवो अ संवेगो।
निक्कंपया तवो निज्जरा य परदेसियत्तं च।।'

1. आत्महित, 2. परिज्ञा, 3. भावसंवर, 4. नव-नव संवेग, 5. निष्कंपता, 6. तप, 7. निर्जरा, 8. परदेशिकत्व।

आत्महित : श्रुताभ्यासी आत्महित गुण-निष्पन्न होता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है, एकाग्रता की वृद्धि होती हैं एवं हेय, श्रेय तथा उपादेय का बोध होता है। जो श्रुत का अध्ययन नहीं करता वह आत्महित को नहीं साध सकता।

भौतिक जगत में उसकी दृष्टि मूढ़ हो जाती है। फलस्वरूप वह हित में अहितबुद्धि और अहित में हितबुद्धि कर लेता है। उसकी चेतना पर अज्ञान का आवरण आ जाता है, जो संसार-परिभ्रमण का हेतु बन जाता है। आत्महित का ज्ञाता आत्मविघातक, संयमविघातक और जिनशासन की प्रभावना के विघातक तत्त्वों से निवृत्त हो जाता है। संयम के उपकारक तत्त्वों में ही उसकी प्रवृत्ति रहती है।

परिज्ञा : परिज्ञा शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञपरिज्ञा से पाप-बंधन के हेतुओं का बोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन हेतुओं से मुक्त रहने के लिए उद्यत होते हैं। जो व्यक्ति बंधन के हेतुओं को जानकर उनका प्रत्याख्यान नहीं करता वह वस्तुतः परिज्ञ नहीं कहलाता। परिज्ञा से भावित चित्तवाला व्यक्ति इंद्रियजनित इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष नहीं करता। कूर्म की तरह वह संवृत-योग होता है। शुभ ध्यान में एकाग्र चित्त बना हुआ वह व्यक्ति गुरु के प्रति विनय-प्रतिपत्ति में कुशल होता है। उसका ज्ञान जलसिक्त पादप की तरह वृद्धिंगत होता रहता है।

भावसंवर : संवर का अर्थ है त्याग। त्याग यानी असत् के मार्ग का अवरुद्ध होना। भाष्यकार ने संवर की स्थिति के साथ व्यक्ति का अभेद कर उसे भावसंवर कह दिया है। यह गुण और गुणी में अभेद का निर्देश है।

नव-नव संवेग : जैसे-जैसे व्यक्ति श्रुत-सागर में अवगाहन करता है, उसे अपूर्व अर्थ की प्राप्ति होती है। उस अपूर्व अर्थ को उपलब्ध कर उसका चित्त अत्यंत आह्लादित हो जाता है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य की घटना इतिहास-प्रसिद्ध है। वे श्रुत के अनन्य उपासक थे। कहा जाता है कि उत्तराध्ययन सूत्र का वे सैकड़ों बार स्वाध्याय कर चुके थे। व्याख्यान में विश्लेषणपूर्वक अनेक बार उसका वाचन भी कर चुके थे। राजस्थानी भाषा में उसकी पद्यबद्ध टीका भी लिखी। इस प्रकार अनेक बार उत्तराध्ययन में अवगाहन किया। इतना होने पर भी जब-जब वे रात्रि में उत्तराध्ययन का स्वाध्याय करते, उसके अर्थ का अनुचिंतन करते, तब-तब नए अर्थ को पाकर वे अत्यंत आनंद की अनुभूति करते और युवाचार्य मघवा को कहते—मघजी! आज तो एक नया रत्न मिला है। श्रुत के उपासक आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ से भी अनेक बार सुना है कि आज तो सवा लाख का/सवा करोड़ का श्लोक/पद्य मिला है।

निष्कंपता : ज्ञान से श्रद्धा प्रगाढ़ होती है। श्रद्धा प्रगाढ़ होने से वैराग्य परिपुष्ट होता है। संयम में स्थिरता आती है। परीषह, उपसर्गों के आने पर भी वह स्वीकृत मार्ग से विचलित नहीं होता। 'जाए सद्धाए निक्खंतो'—यह आर्षवाणी उसका आदर्श होती है।

तप : श्रुत को सबसे बड़ा तप माना गया है। भाष्यकार की भाषा में—

'बारस विहम्मि वि तवे सब्भिंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि अ होही सज्झायसमं तवो कम्मं।।'

अनशन, ऊनोदरी आदि छह प्रकार के बाह्य तप एवं स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्त्य आदि छह प्रकार के आभ्यंतर तप बताए गए हैं, पर इन सबमें स्वाध्याय सबसे बड़ा तप है। स्वाध्याय की कोटि में कोई दूसरा तप न है, न होगा। आचार्य अमितगति के शब्दों में—स्वाध्याय परमात्मा को प्रकाशित करने का उपाय है।

निर्जरा : श्रुत अध्ययन करने वाला व्यक्ति विपुल निर्जरा का भागी बनता है। कहा गया है कि अज्ञानी जीव नैरयिक आदि अवस्थाओं में रहता हुआ करोड़ों वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, ज्ञानी व्यक्ति त्रिकरण—मन, वचन, काय से गुप्त रहता हुआ उच्छ्वास मात्र में उतने कर्मों का क्षय कर देता है।

परदेशिकत्व : जिसने श्रुत का अभ्यास कर लिया है, वह आत्महित और परहित दोनों को साधता है। आत्महित इस दृष्टि से कि दूसरों को अध्ययन कराने से उसके ज्ञानावरणीय कर्म का विलय होता है। परहित इस दृष्टि से कि उससे ज्ञान प्राप्त कर अनेक व्यक्ति संसार-सागर से पार उतरते हैं। भगवान महावीर ने तीर्थ/प्रवचन का आधार श्रुत को माना है। अध्ययन-अध्यापन की परंपरा ही श्रुत की अव्यवच्छित्ति का निमित्त बनती है। जो स्वयं श्रुत का अध्ययन कर दूसरों को कराता है वह तीर्थंकर की आज्ञा का आराधक होता है। संघ की प्रभावना करता है और जिनशासन की सेवा करता है। जिन साधुओं को वह ज्ञान देता है वे भी उसके प्रति वत्सल रहते हैं, उसे बहुमान देते हैं।

श्रुत अध्ययन की उपरोक्त बातों को जान-समझकर व्यक्ति श्रुत से अपने चित्त को भावित करे—यह अभीष्ट है। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कहा गया है—जैसे ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सूई सहजतया गुम नहीं होती और गुम हो जाती है तो खोजने पर आसानी से मिल जाती है, वैसे ही ससूत्र (श्रुत) साधक संसार में भटकता नहीं। भटक भी जाए तो सघन अंधकार वाले बीहड़ जंगल में भी अपना पथ खोज लेता है। ❖

❑

असीम के ही कारण मेरा देवगढ़ जाना हुआ। असीम ही निमित्त बना मेरे उस लोमहर्षक अनुभव का। आज इतने अरसे बाद जब उसी जंगल की परिक्रमा करके लौटा हूं तो मुझे खुद को यकीन दिलाना पड़ रहा है बारंबार कि वह मैं ही तो था, जिसके साथ कुछ अद्‌भुत और अविश्वसनीय घटित हुआ था। तब से मेरे भीतर लगातार कोई फुसफुसा रहा है—'....तुम्हें आखिर वह अनुभव दिया ही क्यों गया था? इसीलिए ना, कि तुम उसका पीछा करोगे, उसकी जड़ तक—यानी अपनी खुद की जड़ तक—पहुंचोगे, जो जन्म-जन्मांतरों तक फैली हुई है। क्या तुम्हें इस बहाने अपने बंदीगृह की दीवारों को लांघने का—कम-से-कम उनके आर-पार झांकने का अवसर नहीं मिला था? क्या किया तुमने उस अवसर का?

कहानी

मैं और असीम

❑ रमेशचन्द्र शाह

पता नहीं, जो मैं लिखने बैठ गया हूं वह लिख भी पाऊंगा कि नहीं। मुझसे कहानी की मांग की गई है और जाने कब से मैंने कोई कहानी नहीं लिखी है। कहानी फटकती ही नहीं मेरे पास आजकल, तो मैं क्या करूं? मगर मना करते-करते ही मुझे जाने क्या हुआ। अजीब मरोड़-सी उठने लगी—क्या पता, कुछ हो ही जाए! यों भी, पहले से मेरे दिमाग में कोई साफ नक्शा तो बना रहता नहीं; बस, इसी तरह एक मरोड़-सी उठती है और उसी में एक के बाद एक जुमले जुड़ते चले जाते हैं और पता भी नहीं चलता, कब कैसे कहानी बन गई। तो....क्या पता, आज भी कुछ वैसा ही घट जाए!

मगर, एक फर्क है इस बार। बहुत बडा फर्क। यह जो मैं अचानक अपने भीतर-ही-भीतर ऐंठने लगा हूं, वह कुछ घटने का संकेत नहीं। यह तो तीन वर्ष पूर्व मेरे साथ घटित हो चुकी एक ऐसी घटना की ऐंठन है, जिसके फिर से घट सकने की तो बात ही क्या, मेरी स्मृति में भी पुनर्जीवित हो सकने की गुंजाइश नहीं दीखती। वह तो जीते-जी मर जाने जैसी घटना थी; जीते-जी एक दूसरी ही देह और एक दूसरे ही देश-काल में फिंक जाने की घटना। आखिर कितनी अवधि रही होगी उस जीवन और मरण की? काश कि मैंने तभी उसे टीप लिया होता! कैद कर लिया होता उस कौंध को किसी भी तरह। उफ! तीन बरस गुजर गए तब से और इन तीन बरसों में मुझे एक बार भी उसकी याद नहीं आई! यह कैसे हुआ, क्यों हुआ? और फिर, आज अचानक क्यों मैं उस व्यतीत का आवाहन करने बैठ गया? वह भी एक निहायत ही क्षुद्र संयोग के बूते। नहीं-नहीं, संयोग केवल इतना ही नहीं कि आज अभी उस देवगढ़ नाम के जंगली गांव से लौटकर घर में दाखिल होते ही मुझे यह कहानी की मांग करता पत्र मिला। अगर मैं तीन साल बाद दुबारा उस जंगल में नहीं पैठा होता तो क्या घर बैठे इस पत्र का उत्तर देते हुए मेरी रीढ़ में ऐसी सुरसुराहट होती?

तो, असली वजह तो यही है—मेरा तीन साल बाद उस जंगल में दुबारा पैठना और फिर से....फिर से उन्हीं परछाइयों से घिर जाना। मगर....इस बार तो वहां उस जंगल में वैसा कुछ भी मेरे साथ घटित नहीं हुआ। होता तो क्या मैं इतनी जल्दी, इतनी आसानी से लौटकर आ सकता था वहां से? आखिर मैं वहां गया किसलिए था? अपने मुंहबोले भतीजे की शादी में शरीक होने और उसके बाप से, यानी अपने बचपन के क्लासफेलो को धीर बंधाने के लिए ही ना! वह बेचारा एक तो वैसे ही लुटा-पिटा बैठा था;

अपने इकलौते बेटे की इस एक और करतूत ने उसके वैसे ही होश उड़ा रखे थे। तिसपर मुझे भी उस तरह वहां इकट्ठा हुए दूसरे तमाम तमाशाइयों की तरह शादी की रस्म निपटते ही उलटे पांव भागने को तैयार देखकर उसे कैसा लगा होगा? मेरा क्या बिगड़ जाता, अगर मैं दो-चार दिन वहीं रुक जाता? एक मेरा ही तो सहारा था उसे उस बियाबान में।

'....ये क्या हो गया, देबू? तेरे रहते ये क्या कर लिया इस नालायक ने? कुछ तो समझाता इसे!'.... वह मुझे देखते ही दौड़कर मुझसे लिपट गया था। जब मैंने उसे बताया कि 'यह तो खुद मेरे लिए न्यूज है; अभी परसों ही तो आधी रात को प्रकट हुआ था तेरा लड़का मुझे यह खबर सुनाने', तो वह हैरत से आंखें फाड़े मुझे देखता रह गया था। आखिर मैं ही तो इतने बरसों से एक पुल बना हुआ था उसके और असीम के बीच। मैं ही तो उसको भरोसा दिलाता आया था कि उसका लड़का जो कर रहा है वह तो लाखों में कोई एक ही कर सकता है। क्या हुआ अगर उसने थीसिस अधूरी छोड़ दी! क्या हुआ अगर उसने आइ.ए.एस. में बैठने का इरादा भी छोड़ दिया! देखता नहीं, कैसी धाक जमा रखी है उसने इस इलाके में! हाकिम-हुक्काम सब उसके इशारों पर नाचते हैं। सारी पार्टियों के छोटे-बड़े नेता उसे खुश करने में लगे रहते हैं। जमाना चाहे जितना बदल गया हो, लोग आज भी उसी के पीछे चलने को तैयार हैं जो सचमुच त्यागी और तपस्वी हों—जैसा तेरा लड़का है। इस गांव के लिए उसने जान खपाई है अपनी; और सिर्फ इस गांव के लिए ही नहीं, हजारों-लाखों लोग अगर आज उसे देवता की तरह पूजते हैं तो क्यों? और, तू ऐसा क्यों समझ रहा है कि लड़का तेरे हाथ से निकल गया? असीम को मैं तुझसे ज्यादा अच्छी तरह जानता हूं। बस, एकाध साल और वह रहेगा यहां अपनी असली रिसर्च पूरी करने और हमारा असली समाजशास्त्र गढ़ने। फिर तू देखना, तेरा बेटा कैसा नाम कमाता है; कैसा तहलका मचाता है एकेडेमिक दुनिया में भी!

बेचारा सुरेंद्र! उसे क्या यह सब याद नहीं आ रहा होगा? क्या गुजर रही होगी उस पर....इस वक़्त! उसे अपने से ज्यादा मुझ पर भरोसा था। मेरे ही कारण अपने इकलौते बेटे पर भी भरोसा लौटा था उसका। और इसी भरोसे के बूते इसने इसी जाड़े में असीम की शादी भी तय कर दी थी वहीं मसूरी में—उसी की बचपन की सहेली के संग। या तो मैं जाता ही नहीं देवगढ़ या फिर....! क्या मुझे पता नहीं था कि वहां मुझे सुरेंद्र का सामना करना होगा?

उफ!....यह मैं कहां से कहां आ पहुंचा! मैं क्या वहां सुरेंद्र का सामना करने गया था? मैं क्या वहां उस नालायक असीम का मन रखने को गया था? मैं तो मौका मिलते ही विवाह-मंडप से सबकी नजरें बचाकर चुपचाप खिसक लिया था और....सीधे, नाले को पार करके उस खंडहर के सामने जा खड़ा हुआ था। बारिश होने लगी थी इसी बीच....और मैं बारिश से बचने को किसी पेड़ के नीचे जा दुबकने के बजाय उस खंडहर पर जा चढ़ा था—पत्थरों के ढेर में उसी मूर्ति को तलाशता हुआ, जिस मूर्ति को देखते ही मुझे तीन साल पहले वहीं, उसी जगह वह आवाज सुनाई दी थी....और जिसे सुनने के साथ ही मैं अपनी देह से बाहर निकलकर हजार साल पहले के उस शिल्पी के भीतर जा पैठा था, जिसने वह मूर्ति गढ़ी थी अपने हाथों से। ऐसा उस मूर्ति ने ही तो मुझे बताया था। कहां गई वह मूर्ति—मेरी उस जन्म की करतूत? और, एक वही क्यों?....दूसरी और भी तो कई-सारी मूर्तियां थीं!

कम-से-कम घंटा-भर वहां मैं उस मूर्ति के पीछे भटकता रहा। मगर वह मुझे नहीं मिलनी थी, नहीं मिली। अचानक एक कौंध-सी मेरे भीतर लपकी। हो-न-हो, असीम ही उठवा ले गया उसे वहां से। आखिर उसी ने तो मुझे उसके पीछे पागल होते देखा था। सब-कुछ क्या बताने से ही पता चलता है? कुछ तो भांपा होगा उसने। आखिर मैं कई-कई दिन वहां रहा था। यों चुपचाप झोले में डालकर ले आना संभव होता तो क्या मैं ही नहीं उठा लाता उसे! जरूर असीम ने ही उसे उठवा लिया होगा। मगर इतना बड़ा पत्थर का खंभा उसने आखिर गाड़ा कहां होगा! मुझे तो कहीं भी नजर नहीं आया वह। गया तो था उसकी कुटिया में तलाशने। गांव में जितने भी झोंपड़े हैं, सभी के भीतर झांक आया था मैं। क्योंकि एकाध को छोड़कर, जहां खाना-वाना बन रहा था बरात का—सब जगह सन्नाटा था। सारे गांव के लोग तो अपने 'दद्दा' की शादी में मगन थे। मंच बना था बाकायदा; जैसे नौटंकी या रामलीला हो रही हो। कुछ नहीं तो कम-से-कम दो हजार लोग तो रहे ही होंगे—आस-पास के गांवों से ही नहीं, कस्बों-शहरों तक से उमड़े लोग। गांव के आदिवासियों से लगाकर जिले के कलेक्टर तक....सभी तो उस हुजूम में शामिल थे। जाने कितने उफनते नालों को पार करके, दो-दो फीट कीचड़ में पहिये धंसाकर ट्रैक्टरों, जीपों और स्कूटरों पर लद-फंदकर ये शहरी वहां पहुंचे थे—उस कुंवारे निर्जन में। सारा इंतजाम, मगर गांव के लोगों का। हां, जेनरेटर लगाके लाउडस्पीकर का इंतजाम-भर कर लिया गया था—'दद्दा' के गुणगान के लिए; 'गांव

की तकदीर पलट देने वाले' इस 'सर्वस्वत्यागी ऋषिकुमार' के लेटेस्ट करिश्मे का—यानी गांव की ही आदिवासी कन्या के साथ परिणय-सूत्र में बंध जाने के करिश्मे का—आंखों देखा हाल जनता-जनार्दन को सुनाने के लिए।

विवाह-मंडप में अपनी वधू के साथ बैठे असीम को मैं देख रहा था और मुझे खुद अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। क्या सचमुच यह वही लड़का है, जो आज से साढ़े तीन वर्ष पूर्व अपने शोधकार्य के सिलसिले में यहां आया था और मुझसे मिला था अपने पिता की चिट्ठी लेकर? तब उसका मकसद उस घने जंगल के बीचोबीच जाने कहां से विस्थापित होकर बसे हुए आदिवासियों के दस-पंद्रह कुनबों के गांव का समाजशास्त्रीय अध्ययन-भर करना था। वह गांव भी तो उसकी अपनी ही खोज थी। दस-पांच बार वहां का दौरा करते-करते उसे कुछ ऐसा लगाव हो गया कि उस गांव के लोगों की समस्याएं उसकी अपनी समस्याएं बन गईं। वह उन्हीं के साथ रहने लगा। उनकी लतें छुड़ाने, उन्हें अक्षर-ज्ञान कराने, उन्हें कर्ज से छुटकारा दिलाने और आत्मनिर्भर बनाने में जी-जान से जुट गया वह। अपनी जान जोखिम में डालके वह उनके अधिकारों के लिए कभी जंगल-विभाग के अधिकारियों से, कभी पास के कस्बे के साहूकारों से, तो कभी कलेक्टरेट के लोगों से रात-दिन भिड़ा रहता। मेरे साथ उसकी जो लंबी-लंबी बहसें हुआ करती थीं, मेरा खयाल है, कुछ तो उनका भी असर रहा ही होगा; क्योंकि अब वह पक्का गांधीवादी बन गया था—इतना पक्का, कि मुझे खुद घबराहट होने लगी थी उसका यह कायाकल्प देखकर। मुझे कल्पना नहीं थी कतई, कि वह इतनी दूर चला जाएगा। अपने मार्क्सवादी निदेशक से अब उसकी बिल्कुल पटरी नहीं बैठ रही थी और लिखी-लिखाई थीसिस उसने उठाकर फेंक दी थी—मेरे लाख समझाने-बुझाने के बावजूद। अब वह उसे एक स्वतंत्र पुस्तक की तरह लिखना चाहता था—अपने प्रत्यक्ष जीवनानुभव के आधार पर। निदेशक भला इसके लिए क्यों तैयार होता! अपने पट्टशिष्य की इस खुली बगावत से तिलमिलाकर उसने उसे लेक्चररशिप से भी वंचित कर दिया, जो उसे मिलनी तय थी।

असीम अकसर मेरे पास आता और अपनी कारगुजारियों के बारे में बताता। मेरे बच्चे उसके साथ जाके देवगढ़ की सैर कर आए थे कई बार और उससे बेहद-बेहद प्रभावित थे। दरअसल उन्हीं से मुझे पता चला था कि यहां जंगल के एकदम भीतर एक अति प्राचीन मंदिर के खंडहर बिखरे पड़े हैं और एक-से-एक मूर्तियां इस मलबे में दबी पड़ी हैं।

आखिर एक दिन मैं असीम के साथ देवगढ़ की यात्रा पर निकल ही पड़ा। सड़क से कोई आठ किलोमीटर दूर सुनसान घने जंगल के बीच—जहां किसी मनुष्य के होने की एकाएक कल्पना भी नहीं की जा सकती थी—कुल पंद्रह-बीस झोंपड़ियां थीं। इस बस्ती से कोई आधा किलोमीटर दूर एक जंगली नाले के पार वह खंडहर था। गांव में घुसते ही मेरी निगाह एक वृक्ष की जड़ से टिकी दो मूर्तियों पर पड़ी। मुझे प्राचीन मूर्तिकला में शुरू से ही दिलचस्पी रही है। देखते ही मेरी समझ में आ गया कि ये मूर्तियां आज से कोई हजार बरस पहले की होंगी। खजुराहो जिन दिनों बन रहा था, उन्हीं दिनों के आस-पास यह मंदिर भी बना होगा। कैसा समय रहा होगा, जब देश के हर कोने में शिल्पियों-कलाकारों के सैकड़ों समुदाय रात-दिन जुटे रहते होंगे। पीढ़ियां खप जाती होंगी, एक ही मंदिर को बनाने में। एक ही प्रेरणा और ऊर्जा का महाप्रवाह उस वक़्त समूचे देश के मन-प्राणों को स्पंदित कर रहा होगा। कहां से आई होगी वह ऊर्जा! और देखते-देखते वह कहां विलीन हो गई! मैं तो उसी क्षण मंदिर देखने को छटपटा उठा। मगर असीम का कहना था, अभी शाम के वक़्त वहां कुछ नहीं दिखेगा। दिन-दोपहर भी वहां झुटपुटा रहता है; इस कदर घना जंगल है वहां।

सुबह-सुबह हम दोनों वहां पहुंचे। सच में, दूर से देखने वाले को सपना भी नहीं आ सकता था कि यहां ऐसा वैभव बिखरा पड़ा होगा। मंदिर का तो वहां भ्रम भी नहीं हो सकता था। पत्थरों का विशाल ढूह-भर था वह, जिसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि एक समूचा मंदिर यहां अपने ही ऊपर ढहा पड़ा है।

असीम तो अपने गांव वालों के साथ ही व्यस्त रहता था। मेरे पांव मुझे बार-बार उसी खंडहर की ओर खींच ले जाते। अकेला वहां घंटों मैं उन पत्थरों से संवाद किया करता। जिस घटना का मुझे बयान करना है, वह दूसरे दिन भी नहीं, तीसरे दिन घटी। दोपहर का वक़्त था। मैं वहां उस ढूह के सबसे ऊंचे पत्थर पर बैठा एक मूर्ति को निहारने में तल्लीन था। वह मुझे अचानक ही दीख गई थी—एक पत्थर को ठेलते ही उसके नीचे दबे खंभे पर। मुझे रोमांच हो आया था उसे देखते ही, उसे छूते ही। जैसे वह इसी क्षण की प्रतीक्षा में छुपी बैठी हो और मुझसे बोलने ही वाली हो। मुझे लगा, वह मुस्करा रही है, हिलने-डुलने लगी है। अचानक

वह आंख के सामने से गायब हो गई और मेरे कानों में फुसफुसाहट हुई—'मुझे पहचाना?' जब तक मैं संभलता, मेरे चारों ओर बिखरे पत्थर एकबारगी हिलने-डुलने और खड़े होने लगे। इतनी तेजी से यह सब घटित हुआ कि मैं खुद पत्थर हो गया जैसे। कहीं ऐसा तो नहीं कि क्षण-भर के लिए मैं मूर्च्छित ही हो गया होऊं; क्योंकि अगले ही क्षण मुझे घंटियों की आवाज सुनाई दी....और मैं पत्थरों के ढेर पर नहीं, पानी की तरह आर-पार लहराते विशाल खंभों से घिरा हुआ था। तभी आरती की तरह घूमती एक लौ का आभास हुआ....शंखध्वनि का भी।....कभी एक खंभा प्रकाशित होता, कभी दूसरा....और मैं पागल की तरह यहां-वहां दौड़ता हुआ एक-एक के पास जाता, उन्हें छूता; उन हंसती-खिलखिलाती मूर्तियों को।

एक पल को लगता, मंदिर में खूब चहल-पहल है और दूसरे ही पल लगता, यहां मेरे सिवा और कोई नहीं। बस, मूर्तियां-ही-मूर्तियां....छिपती-दिपती मेरे चारों तरफ....अचानक कोई फुसफुसाया बड़ी जोर से मेरे कानों में—'देख क्या रहे हो? यह सब तुमने बनाया है—तुमने। याद नहीं, तुम्हीं तो प्रधान स्थपति थे इस मंदिर के!'

तीन बसर गुजर गए तब से। उस दोपहर वहां मेरे साथ क्या-कुछ नहीं घटा था। मैं मैं ही कहां रह गया था! पल-भर में हजार बरसों की दूरी फांद जाने वाला वह मैं नहीं तो कौन था, जो उस मंदिर को और उन मूर्तियों को गढ़ रहा था! और अगर वह मैं नहीं था तो लौटकर कैसे अपने चोले में वापस आ गया? किस कदर झनझनाती रही थी मेरी समूची देह—उस पूरे दिन और पूरी रात! क्या-क्या नहीं देखा होगा मैंने!....क्या-क्या नहीं सुना होगा! पत्थर बोल रहे थे मुझसे....पानी की तरह लहराते पत्थर बता रहे थे मुझे कि मैं कौन हूं, मैं कौन था। मैं तब कैसे उनसे पूछता, तुम्हारी यह दशा कैसे हुई? मैं, जो रात-दिन उन्हें संवारने और गढ़ने में लगा हुआ था।

कि....अचानक....ऐन उस वक़्त, जब मैं इसी मूर्ति को पूरा करके उसे एकटक निहार रहा था, बड़े जोरों की बिजली कड़की—मैं जैसे बड़ी ऊंचाई से नीचे आ गिरा। कानों के परदे फाड़ देने वाला धमाका था वह। पर यह क्या? मैं तो उसी तरह और उसी जगह पत्थरों के ढूह पर बैठा हुआ हूं और मेरे सामने वही मूर्ति है, जो अब शाम के धुंधलके में ठीक से दिखाई भी नहीं दे रही है। और यह कौन है, नीचे खड़ा मुझे पुकारता? 'चाचाजी! चाचाजी!' मेरा सारा शरीर झनझना रहा है। रीढ़ में अजीब सनसनाहट हो रही है। बड़ी मुश्किल से पत्थरों पर रेंगता-फिसलता मैं उतर रहा हूं नीचे।

रास्ते-भर मेरे मुंह से बोल नहीं फूटा। ओठ सिल गए हों जैसे और जीभ बिल्कुल पथरा गई हो। जैसे कुछ भी बोलने की मनाही हो और यही सहज, स्वाभाविक भी हो। असीम को लगा तो सही, कुछ बात है—'क्या बात है, चाचाजी, आज आपका बड़ा मन लग गया यहां?'....मगर मुझे चुप देखकर उसने मुझे आगे कुरेदा नहीं। यों भी, सिवा अपनी एक धुन के उसे बाकी किसी चीज में कहां कोई दिलचस्पी रह गई है! मगर उन दिनों तो वह ऐसा नहीं था। कम-से-कम मूर्तियों के बारे में तो बताया ही होगा मैंने कुछ-न-कुछ। खैर....रात फिर सपने में क्या वही सब दुहराया गया? नहीं, और भी बहुत-कुछ। मैं वहां का नहीं—कहीं और से बुलाया गया हूं। मेरी सभी जगह पूछ है। कहां-कहां नहीं रह चुका मैं! मगर जाने क्या हुआ, मैं तो यहीं बस गया हूं। युवावस्था समूची मेरी इसी नगर पर निछावर हो गई है—हां, तब यह भरी-पूरी बस्ती थी, जंगल नहीं। जंगल था तो, मगर दूर....और यह जो खान मैंने खुद खोजी है, इसी ने मुझे बांध लिया है जैसे। और कहीं मुझे मिला नहीं ऐसा पत्थर शायद। तो जाने कितने बरस हो गए मुझे उन्हीं पत्थरों में रमे-रमे। जाने कहां-कहां से शिल्पी उमड़े चले आ रहे हैं मेरा काम देखने। वे भी, जिनसे मैंने सीखा था। पर यह क्या? ठीक उस दिन, जिस दिन मंदिर के गर्भगृह में प्राण-प्रतिष्ठा होने जा रही है....ठीक उसी दिन और उसी मुहूर्त में मेरे प्राण-पखेरू उड़ गए क्या? मैं तो अपने ही शव के पास खड़ा हूं और लोगों का हाहाकर सुन रहा हूं। यह क्या हुआ? कोई छल-कपट? मुझे मरवा दिया गया क्या ईर्ष्यावश? क्या मुझसे राजा रुष्ट हो गया था? क्या मैं किसी रानी या राजकुमारी के प्रेम में पड़ गया था? नहीं, बिल्कुल नहीं। तो क्या काम करते-करते कोई भारी पत्थर मुझ पर आ गिरा और मैं उसके नीचे पिस गया? नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है—काम तो पूरा हो चुका था। मंदिर तो बनकर तैयार था। नहीं, यह जो चहल-पहल थी वहां, वह मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा की नहीं थी। अभी छत पर थोड़ा-सा काम बाकी था। तो क्या....?

मुझे लगता है, यदि मैं उसी रात या अगली सुबह जो-कुछ मेरे साथ घटा था, उसे लिखने बैठ गया होता तो बात ही अलग होती। मगर इस बारे में कि मेरी मृत्यु कैसे हुई, शायद तब भी कुछ पक्का पता नहीं चल पाता। आखिर उस धमाके का क्या अर्थ था? वह मेरा अंत था या मेरे उस सारे किए-धरे पर ही वह वज्रपात मुझे दिखाया गया? मेरे उतनी ऊंचाई से गिरकर सहसा नीचे आ रहने का क्या अर्थ था? एक बात रह-रहकर मेरे दिमाग पर दस्तक दे रही है

और वह यह कि यदि मैं कुछ दिन वहीं रहा आता—यदि दुबारा-तिबारा उसी ढूह पर उसी तरह समाधि लगाता, तो शायद.... शायद क्या, निश्चय ही, वह सब मेरे साथ दुबारा घटित होता और मैं पूरी बात जान लेता। आखिर जो भी, जितना भी मैंने जाना-झेला, वह इसी शरीर और इन्हीं नस-नाड़ियों से ही तो झेला-जाना था। मगर यह भी पक्की बात है कि उन कुछ क्षणों के लिए मैं, यह मैं तो नहीं ही रहा हूंगा। मुझे मूर्च्छित करके ही वह अनुभव मुझ पर टूटा होगा। किन्हीं अज्ञात शक्तियों ने ही वह रास्ता निकाला होगा—मेरी जन्मांतर-कथा मुझे बताने को....। तो फिर मैं तभी दुबारा क्यों नहीं गया वहां उसी अनुभव का पीछा करने? अगर मुझे सचमुच समाधि लग गई थी उस मूर्ति को निहारते हुए, तो वही, वैसी ही समाधि मुझे दुबारा क्यों नहीं लग सकती थी?

मैं वहां गया तो सही अगले दिन। मगर अकेले नहीं, असीम के संग। मैं हिम्मत नहीं जुटा सका वहां अकेले जाने की। नहीं, गया तो था एक बार; मगर आधे रास्ते से ही भाग आया। खंडहर पास आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गए; मैं सिर से पांव तक सिहर उठा। दूसरे दिन असीम को किसी काम से शहर जाना था। मैं छुट्टी पूरी किए बिना उसके साथ ही लौट आया। असीम की अनुपस्थिति में उस बियाबान में अकेले एक रात भी कैसे काट सकता था मैं! रास्ते-भर मैं छटपटाता रहा उसे सब-कुछ बता देने को। मगर वह कुछ पूछता-खोदता तब न! उसकी वह उदासीनता देखकर मेरा मन ही बुझ गया। लगने लगा, जैसे वह सब जो मेरे साथ घटा था, महज मेरा भ्रम था। यह भी नहीं कि उन चार-पांच दिनों में मैंने अपनी ओर से कोई कोशिश ही न की हो। आखिर उसी के उकसाने से तो मैं देवगढ़ गया था। बल्कि....सच पूछा जाए तो उस अनुभव से पीछा छुड़ाने को मैं और भी ज्यादा असीम से चिपटता था; जैसे वही मेरा रक्षा-कवच हो। दूसरी ओर, असीम का अपना खब्त था, जिसमें मैं तब चाहकर भी साझा नहीं कर पा रहा था। मुझे साफ महसूस हो रहा था कि मेरी खब्तुलहवासी को मेरी उदासीनता समझकर वह मन-ही-मन मुझसे खिंचा हुआ है।

खैर, जो भी हो, मैं दुबारा फिर वहां जाने की—अकेले जाने की—हिम्मत नहीं जुटा सका। तब फिर इतने बरस बाद आज मैं वहां जाने को प्रेरित क्यों हुआ?

नहीं! कोई प्रेरणा नहीं! मैं तो कर्तव्यवश ही गया था वहां। असीम ने एकाएक शादी करने का फैसला कर डाला। वह भी अपनी उस बचपन की सहेली से नहीं, जिस पर उसके माता-पिता ने अपनी आखिरी उम्मीद टिका रखी थी कि वही असीम को उसकी अपनी दुनिया में वापस लौटाएगी। हां, सुरेंद्र ने ही तो मुझे बताया था कि वह पहले से वचनबद्ध है और इसी जाड़े में शादी तय हो चुकी है। क्यों अचानक उसने यह फैसला किया अपने मां-बाप को और अपनी बालसखी को भी दिया हुआ वचन तोड़ने का, उनकी उम्मीदों पर पानी फेर देने का—यह मेरे लिए एक अबूझ पहेली है। और, मेरे लिए ही क्यों, उसके तमाम भक्तों, उसके निकटतम मित्रों के लिए भी। सन्न रह गया था मैं, जब परसों आधी रात वह एकाएक मेरे घर में प्रकट हुआ अपना यह फैसला सुनाने और मुझे न्योता देने। उसी ने मुझे बताया—बिना पूछे—कि इतनी जल्दी वह नहीं मचाता, अगर उसके पिता ने अगले माह ही उसके विवाह की तिथि पक्की करके उसे तार न भेजा होता।

मगर यह तो वह नहीं भी बताता तो इतना तो मैं भांप ही गया था। क्योंकि सुरेंद्र ने उसके साथ-साथ मुझे भी तार कर दिया था। मगर जब मैंने उससे कहा कि यह तो कोई कारण नहीं हुआ, तो इसके जवाब में उसने जो कहा, वह सुनते ही मुझे ऐसा लगा जैसे बिजली का नंगा तार छू गया हो।

'चाचाजी, अब आपको मैं कारण क्या बतलाऊं! देवगढ़ से मेरा इस जन्म का ही नहीं, जन्म-जन्मांतरों का संबंध है।'

सुनकर मैं जिस बुरी तरह चौंका, उसे असीम ने भी लक्ष्य किया ही होगा। तभी तो उसने मेरी बांह थामी और बोला—'क्या बात है, चाचाजी?' मैं उसे क्या बताता!

मगर उसी को क्यों, क्या कभी खुद को भी मैंने वह बात उस तरह बताई? कैसी-कैसी निहायत मामूली घटनाओं का वृत्तांत आप-से-आप मेरी चिट्ठियों और मेरी डायरियों में दर्ज होता रहा है। मगर इतनी असामान्य घटना को दर्ज करने से मैं क्यों चूक गया, यह मेरी समझ से बाहर है। क्यों मैं उसका सामना करने से, उसे याद तक करने से जान-बूझकर कतराता रहा? हां, अब याद आया, मैंने उस घटना के तुरंत बाद तो नहीं, मगर दो-चार दिनों के अंदर ही एक कविता जरूर लिखी थी और वह भी अपनी डायरी में ही।

अनगिनत बिवाइयों में
फूट पड़ा सहसा
वह मौन!

भभक रहीं बिजलियां अभी तक

जिन्होंने मुझे
बिछा दिया था दस दिशाओं में खींचकर
धरती पर एकसार

हर आदमी कील-सा
ठुंका हुआ था मेरे आर-पार

झांकती थी मुझमें
हर दूब, हर दरार....

पता नहीं, जो कुछ मेरे साथ घटित हुआ था, उसका इन पंक्तियों से क्या संबंध था! परंतु तब शायद मुझे काफी राहत मिली होगी। कह नहीं सकता, पर मिली ही होगी। वरना मैं क्यों उसकी गिरफ्त से इतनी आसानी से निकल सका और क्यों फिर कभी उसने मुझे नहीं पकड़ा?

और....आज जब इतने अंतराल से मुझे उस घटना का आवाहन करने की सूझी तो क्या मैं सचमुच कर पाया? अभी आज ही तो मैं उस खंडहर के सामने खड़ा था। ठीक उसी पहर, उसी घड़ी में तो आज से तीन साल पहले वह इलहाम मुझ पर टूटा था। मगर कोई आधा घंटे तक उन पत्थरों की परिक्रमा करके भी मुझमें कोई हरकत नहीं हुई। मैं जैसा पहुंचा था वहां, वैसा ही खाली हाथ लौट आया। रास्ते में अचानक एक झाड़ी के पीछे दो आदमियों की बातचीत कान में पड़ी। मैं वहीं-का-वहीं ठिठक गया।

'ये दद्दू की लीला कछू पल्ले ना पड़ी हमरे!'

'अरे, दद्दू काहे को सादी-वादी को झंझट पालें! देखते रहियो, ये गांव इसी को सौंप के उनने जोग ले लेनो है।'

'का बात करते हो? फिर ये स्वांग रचाने की का जरूरत थी?'

'स्वांग की बात ना है रे। ई तो उनको बड़प्पन है। गांव को अपना माना। ऊ के खातिर इतना रात-दिन एक किया। जब इतनी माया फैलाई है तो कोई सम्हालने वाला तो चाहिए के नहीं! लायक लड़की इहै है गांव में। सारी टिरेनिंग इसी की भई है। कभू-न-कभू ये जंजाल तो छूटनो है। दरद नईं होगा अब छोड़ते बखत दद्दू को? आधे जोगी तो पैले से हैं। निस्फिकर होके अब पूरा जोग ले लेंगे।'

पुरोहित पंडित अब वरमाला की आखिरी रस्म पर पहुंच चुके थे। पहली बार मेरी निगाह असीम की वधू के चेहरे पर पड़ी और अभी-अभी रास्ते में सुना वह संवाद कानों में गूंज उठा।....तो यही है वह लायक लड़की, जिसकी खातिर इस लड़के ने अपने बचपन के प्यार की, अपनी वाग्दत्ता की भी आहुति दे दी? कितना हंसमुख, कितना जीवंत लड़का था! कितनी-सारी चीजों में इसे रस था! कितना पढ़ता और सोचता था! और अब?....बच्चे ठीक ही तो कहते हैं—'असीम भाई साहब आजकल बिल्कुल अजीब हो गए हैं। कुछ भी बात शुरू करो, उसमें गांव को जरूर घसीट लाएंगे। गांव-गांव-गांव के सिवा कुछ सूझता ही नहीं उन्हें। बस, अपने कारनामे बखानते रहते हैं और कुछ भी पढ़ने-लिखने की बात करो तो कहते हैं, 'मुझे पढ़ने-लिखने से एलर्जी हो गई है। मेरा कोई निजी जीवन नहीं, मैं तो सार्वजनिक संपत्ति हूं।' खाते-खाते सब्जी में पानी उड़ेल देंगे और कहेंगे—'स्वाद-वाद का तो कोई कॉन्सेप्ट ही नहीं अपने यहां।' मम्मी ने डांटा—'क्या यही गांधीवाद है तुम्हारा? यही सीखा है तुमने गांधीजी से?' तो जानते हैं, पापा, इनने क्या जवाब दिया? बोले—'गांधीजी कौन देवगढ़ में रहते थे।....' यानी कि अब इन्होंने गांधीजी को भी पीछे छोड़ दिया है। उनसे भी दस कदम आगे बढ़ गये हैं। ये जनाब!'

सच में, इधर कई महीनों से मुझे भी लगने लगा कि असीम के साथ एक अजीब दुर्घटना हो गई है। इससे तो वह पहले वाला असीम ही क्या बुरा था। कम-से-कम अपने लिए तो अच्छा ही था। अब तो वह अपनों से ही दुश्मनी ठाने बैठा है। क्या मतलब है ऐसी सार्वजनिकता का, जो आदमी की निजता को, उसके व्यक्तित्व को ही मिटा डाले? अरे व्यक्तित्व पहले बने तो सही; तभी न वह विसर्जित करने लायक होगा? ऐसा बेवक़्त का आत्म-विसर्जन क्या निरी आत्म-प्रवंचना ही नहीं है? असीम आखिर किससे बदला ले रहा है? खिलने से पूर्व ही अपनी सारी संभावनाओं को पांवों तले कुचलकर वह क्या इस खुशफहमी में है कि उसने बहुत बड़ा काम कर दिया है और अब उसे पूरा हक है अपने मां-बाप को और खुद मुझको भी ठेस पहुंचाने का? अभी हाल-हाल तक मैं उसे अपनी पत्नी और बच्चों के सामने 'डिफेंड' करता रहता था। अब उसे 'डिफेंड' करने की इच्छा ही नहीं होती। पहले मैं उसे सबके सामने—अपने बच्चों के भी सामने—उदाहरण की तरह पेश करता था। और अब? यह क्या हो गया? कैसे हो गया?

असीम के ही कारण मेरा देवगढ़ जाना हुआ। असीम ही निमित्त बना मेरे उस लोमहर्षक अनुभव का। आज इतने

अरसे बाद जब उसी जंगल की परिक्रमा करके लौटा हूं तो मुझे खुद को यकीन दिलाना पड़ रहा है बारंबार कि वह मैं ही तो था, जिसके साथ कुछ अद्‌भुत और अविश्वसनीय घटित हुआ था। तब से मेरे भीतर लगातार कोई फुसफुसा रहा है—'....तुम्हें आखिर वह अनुभव दिया ही क्यों गया था? इसीलिए ना, कि तुम उसका पीछा करोगे, उसकी जड़ तक—यानी अपनी खुद की जड़ तक—पहुंचोगे, जो जन्म-जन्मांतरों तक फैली हुई है। क्या तुम्हें इस बहाने अपने बंदीगृह की दीवारों को लांघने का—कम-से-कम उनके आर-पार झांकने का अवसर नहीं मिला था? क्या किया तुमने उस अवसर का? तुम कैसे कह सकते हो कि तुम्हारी विडंबना असीम की विडंबना से कुछ कम है? आखिर यह वही जंगल तो है, जिसने असीम को भी बुलाया और तुम्हें भी। असीम ने उस बुलावे को, उस चुनौती को कबूल किया और उसमें पूरी तरह अपने को झोंक दिया। हो सकता है, उसने गलत किया। हो सकता है, उसे इतनी दूर नहीं चला जाना चाहिए था कि वापस लौटना ही असंभव हो जाए। हो सकता है, अच्छे-से-अच्छे इरादों और कामों के पीछे भी एक बहुत बारीक अहंकार छुपा रहता हो, जो अंततः आदमी के लिए आत्महंता साबित होता हो। मगर इससे क्या? असीम भी दावा कर सकता है—क्यों नहीं कर सकता? कि उस निर्जन में उसे आत्म-साक्षात्कार हुआ। क्या उसका दावा झूठा कहलाएगा? क्या उसने इन तीन बरसों में उस जंगल के साथ और खुद अपने साथ भी कुछ नहीं किया? तुम तो अपनी सोचो, अपनी कहो—तुम्हें जो हुआ था, तुमने उसके साथ क्या किया?....' ❖

आध्यात्मिक वैभव, शरीर और आत्मा पृष्ठ 34 का शेष

साधना का तीसरा सूत्र है—**मैत्री**। कई बार मोह और मैत्री को एक समझ लिया जाता है, किंतु मोह और मैत्री में बहुत अंतर है। मैत्री में मोह का होना आवश्यक नहीं है। निर्मोह की साधना करने वाला भी मैत्री का प्रयोग कर सकता है। दूसरों के विकास का चिंतन, परोपकार का चिंतन मैत्री का ही प्रयोग है। मोह व्यक्ति-विशेष के साथ होता है। अमुक मेरा भाई है, मां है, पिता है—आदि-आदि। मैत्री व्यक्ति-विशेष के साथ प्रतिबद्ध नहीं होती। उसका रूप विराट होता है। मेरी ओर से किसी प्राणी को कष्ट न हो, यह मैत्री का प्रयोग है। किसी का बुरा नहीं करना, संभव हो तो कल्याण करना, सही रास्ता दिखाना, यह भी मैत्री का प्रयोग है।

किसी व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग में स्थापित कर देना, कोई व्यक्ति व्यसनयुक्त जीवन जीता है—उसे व्यसनमुक्त बना देना, भोगासक्त व्यक्ति को त्याग की ओर आगे बढ़ा देना—बहुत बड़ा उपकार है, मैत्रीपूर्ण प्रयोग है। कोई व्यक्ति बीमार है, असमाधि में है, उसे मानसिक समाधि में स्थापित कर दिया जाए—यह भी महान उपकार और मैत्री का प्रयोग है। अपना अहित करने वाले का भी कल्याण करने का प्रयास करना परम मैत्री का प्रयोग है। अपनी मैत्री कई बार दूसरों को सम्यक् चिंतन के लिए बाध्य कर सकती है और बदल भी सकती है।

साधना का चौथा सूत्र है—**मिताहार**। साधक को आहार में संयम रखना चाहिए। वह इतना ज्यादा भी न खाए कि साधना में बाधा उत्पन्न हो जाए और वैसा भोजन भी न करे कि स्वास्थ्य खराब हो जाए। स्वास्थ्य भी ठीक रहे और साधना भी सम्यक् चले—इस प्रकार का भोजन करना चाहिए। ऊनोदरी करना, द्रव्यों की सीमा रखना, विगय-वर्जन करना, ये सब मिताहार के प्रयोग हैं। उपवास करना भी अच्छा है, किंतु भोजन करते हुए भी कम खाना साधना का विशेष प्रयोग है।

साधना का पांचवां सूत्र है—**मितभाषण**। वाक्-संयम भी साधना के लिए आवश्यक माना गया है। वाणी संयम नहीं है तो साधना में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अधिक बोलने वाले व्यक्ति के मुंह से कभी भी, कुछ भी निकल सकता है और वह राग-द्वेष को बढ़ाने का निमित्त हो सकता है। साधक वह है जो पहले तोले, फिर बोले। पहले सोचो, फिर बोलो। व्यवहार जगत में बोलना जरूरी होता है, पूर्णतः मौन सबके लिए संभव नहीं हो सकता, किंतु अनावश्यक न बोलने का संकल्प एक साधक के लिए जरूरी होता है।

इन पांच सूत्रों का अभ्यास किया जाए तो साधना पुष्ट बन सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र के 32वें अध्ययन में बताया गया—

जे इंदियाणं बिसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी।।

इंद्रियविषय अनुकूल भी सामने आते हैं और प्रतिकूल भी सामने आते हैं। साधक का ज्ञाता-द्रष्टा भाव विकसित हो जाए, फिर विषय सामने आने पर भी मन प्रतिक्रियान्वित नहीं होगा। लक्ष्यपूर्वक साधना की जाए तो राग-द्वेष को काफी मात्रा में कम किया जा सकता है और साधक सिद्धि के द्वार तक पहुंच सकता है। ❖

प्रयागनारायण त्रिपाठी की कविताएं

•

मैं बिंदु

मैं नहीं हूं
यह त्रिभुज, यह चतुर्भुज, यह वृत्त
त्रिविध अथवा विविध
रेखा-पराजित
ये एक भी आकार
सुंदर, स्पष्ट
किंतु सीमा-रुद्ध, स्वयमाबद्ध!

बिंदु हूं मैं
मात्र केंद्राभास : वह जो
हर असीम ससीम का
हर रूप, हर आकार का विस्तार,
प्राणाधार,
फिर भी चिर-अरूप, अमाप
अपनी मुक्ति में सन्नद्ध!

•

प्रश्न

वृक्ष! पूछूं
किसलिए निःशब्द तुम
इतने सटे-से
निर्वसन,
निश्चेष्ट,
गुरु भू-वक्ष से—
जैसे कि बर्फ?

बर्फ! पूछूं
किसलिए निःशब्द तुम
इतनी सटी-सी
निर्वसन,
निश्चेष्ट,
दृढ़ गिरि-वक्ष से—
जैसे कि चांद?

•

समाधिस्थ

मुझमें कुछ है
जो मेरा बिल्कुल अपना है
जो है मेरे क्षीरोज्ज्वल मन के मंथन का कोमल माखन।
जिसको मैंने बहुत टूटकर
बहुत-बहुत अपने में रहकर
बहुत-बहुत सहकर पाया है—
जिसको अहरह दुलराया है।
गद्‌गद चिंतन, आराधन, एकांत समर्पण की घड़ियों में
वही-वही है : मेरा आश्रय, मेरा आत्मज, पूर्णभूत मैं।
जिसको स्वर में, लय में, शत चित्रों में,
शत-शत संकेतों में तुमको देना चाह रहा हूं।
पर वह मेरी लब्धि
—शब्द सागर-तटवासी अचल कपिल वह—
समाधिस्थ है :
कोंच रहे हैं उसको रह-रह
मेरे व्याकुल यत्न सहस्र-सहस्र सगर-पुत्रों से सज्जित
(इस भय को भी भूल कि निश्चय
भस्म सभी ये हो जाएंगे
जब उसकी समाधि टूटेगी)
—कोंच रहे हैं : पर वह स्थिर है।
—जगा रहे हैं अनुक्षण : पर वह स्थिर है।

कब जागेगा—कब जागेगा
यह दर्पण-गिरि-गुहा निवासी?
कब तुरीय त्यागेगा—
यह अंतस्थ, अचल संन्यासी?

❖❖

शीलन

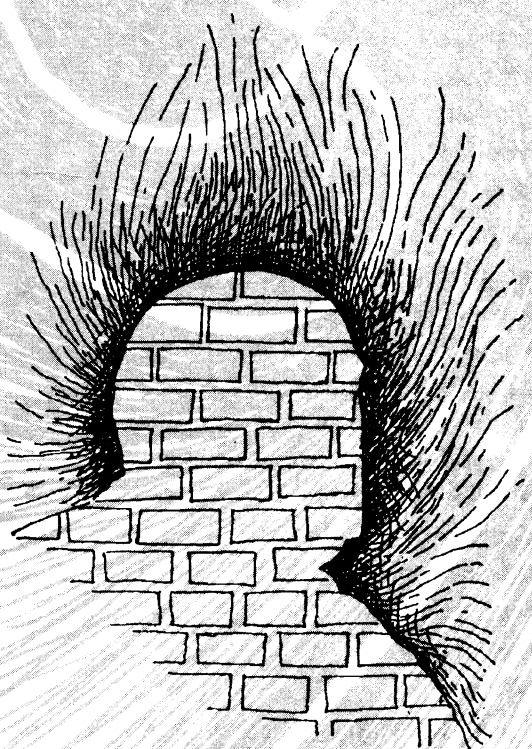

भारत के विकास को संपूर्ण मानवता के विकास के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। इसका एक कारण तो यह है कि जनसंख्या की दृष्टि से हमारा देश संसार में दूसरे स्थान पर है, इसलिए मानवता का बड़ा हिस्सा हमारे देश में है। इसका दूसरा मुख्य कारण यह है कि संसार अब अधिकाधिक अन्योन्याश्रित होता जा रहा है और सिकुड़ता जा रहा है। इस वृहत्तर संदर्भ में मुख्य मुद्दा मनुष्य को ऐसे शिक्षित करना है जिससे वह स्वयं के साथ, प्रकृति के साथ और समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ, शांति और समन्वय के साथ रह सके। आज ये सभी पहलू अपना प्रभाव पूर्णतः खो चुके हैं। यद्यपि ज्ञान में इतनी वृद्धि हो गई है, परंतु मानव को स्वयं अपने बारे में सबसे कम मालूम है। वह स्वयं अपने साथ नहीं रह सकता (या डरता भी है) और उसने अपने ऊपर नियंत्रण और अनुशासन रखने की प्राचीन परंपरा को त्याग दिया है। दूसरी ओर, उसने विजय और शोषण की अपनी अवधारणाओं में विस्तार करके उनको प्रकृति के साथ अपने संबंधों पर भी लागू करना शुरू कर दिया है।

—जे. पी. नाईक

❑

कपटी मनुष्य का मन निर्मल नहीं होता। उसके अंदर प्रकाशपुंज हो ही नहीं सकता। हमारे स्वभाव में सरलता होने से हमें काय की ऋजुता, वाणी की ऋजुता तथा कथनी और करनी में समानता प्राप्त होती है। मायाचारी कुटिल स्वभावी को कभी मानसिक शांति नहीं मिल सकती। उसे संसार में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पाएगा, क्योंकि अविश्वास के कारण छल-कपट से उसकी आत्मा भटकती रहती है और भटकती रहेगी। उसका स्वभाव कुत्ते की पूंछ जैसा वक्र रहता है, जो बारह वर्ष के बाद अंगूठी से टेढ़ी ही निकलेगी। वह अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं पाता और उसी स्वभाव से पतित हो जाता है।

निष्कपटता ही ऋजुता

❑ प्रो. भागचंद्र जैन 'भास्कर'

उत्तम आर्जव का तात्पर्य है आत्मा के ज्ञापक स्वरूप में कपट का भाव उत्पन्न न होने देना। उसमें पूरी सरलता, ऋजुता आ जाना। मृदुता आ जाने के बाद यह ऋजुता आती है। आचार्य कुंदकुंद ने द्वादशानुप्रेक्षा में 'कुटिल भाव को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करना' को आर्जव कहा है। उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंक, अभयदेवसूरि, सिद्धसेनसूरि आदि आचार्यों ने इसी परिभाषा को स्वीकार किया है। इन सभी परिभाषाओं के समग्र चिंतन से यह तथ्य निकलता है कि मन, वचन, काय में किसी भी प्रकार की वक्रता न होना और आचरण शुद्ध होना ही ऋजुता है। इसी को तत्त्वार्थवार्तिक में **योगस्यावक्रता आर्जवम्** कहा है।

आर्जव का संबंध विशुद्ध धर्म से है। धर्म प्रतिस्रोत का मार्ग है, एकांत साधना का मार्ग है। भीड़ में उसका पालन नहीं किया जा सकता। आत्मनिरीक्षण के साथ ही मन में ऋजुता आ जाती है। **सोइ उज्जुयभूयस्स** अर्थात् शुद्धि उसी की होती है, जो ऋजु-सरल होता है। शुद्ध धर्म का पालन व्यक्ति को इतना सरल बना देता है, जितना छोटा बच्चा होता है। इस सरलता के मानदंड अपने-अपने हो सकते हैं पर उसे सभी चिंतक वक्रता के अभाव में देखते हैं।

माया और प्रतिक्रिया

पदार्थ के प्रति आसक्ति ही कपट की जननी है। इसलिए उस आसक्ति को कम करने के लिए आचार्यों ने धर्मोपदेश दिया है। संसारी व्यक्ति को आसक्ति से ही भय उत्पन्न होता है। एक आसक्ति से दूसरी आसक्ति उठ खड़ी होती है और कोई भी आसक्ति संतुष्ट नहीं हो पाती। राजस्थानी कहावत है—**चोर ने तूंबे चुराए**। नाले में उनको डुबोना चाहा पर वह एक डुबोता तो दूसरा ऊपर आ जाता। यही स्थिति आसक्ति की होती है। आसक्ति के संतुष्ट न होने पर व्यक्ति मायावी हो जाता है और उसकी कथनी-करनी में अंतर आ जाता है।

कपट-भाव से मानसिक तनाव बढ़ता है और प्रतिक्रिया जन्म लेती है। प्रतिक्रिया से ही झूठ, चोरी, हिंसा, कपट आदि दुर्गुण आ जाते हैं और संघर्ष शुरू हो जाता है। संवेदन जितना तीव्र होगा, प्रतिक्रिया उतनी ही गहरी होगी। यह गहराई तब तक कम नहीं होगी जब तक भीतरी जागरण नहीं होगा। भीतरी जागरण से ही संन्यासी को स्वर्ण से वितृष्णा होती है और वह झोपड़ी में रहता है, जबकि राजा या गृहस्थ उससे राग करता है और प्रासाद में रहता है।

हमारी चेतना चार स्तरों से गुजरती है—इंद्रिय, मन, बुद्धि और अनुभव। अनुभव की सघनता ऋजुता को पैदा करती है, जिससे व्यक्ति अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार हो जाता है। इसके लिए उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा, पैनी अंतर्दृष्टि और सबल मनोबल अधिक काम करता है। कपट-भाव की बुराइयों को समझकर व्यक्ति मायावी स्वभाव से मुक्त होने का मन कर लेता है, भले ही वह वंशानुगत क्यों न हो।

मायावी स्वभाव वाला तिर्यंचों में पैदा होता है और वह स्वभाव वंशानुगत होता है। वहां विवेकहीनता रहती है। मानव में वह वंशानुगत नहीं होता। उसमें तो विवेक-शक्ति का उपयोग न कर पाने के कारण वह छल-कपट किया करता है। इस छल-कपट या वक्रता को अधिकता के क्रम से चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—बांस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र और खुरपी। इसी तरह ऋजुता को चौभंगी द्वारा समझाया जा सकता है—सरल, सरलवक्र, वक्रसरल और वक्रवक्र।

प्रकृति और प्रभाव

स्वच्छ जल में जिस तरह कंकड़ डालने या फेंकने से जो चंचलता निर्मित होती है, उसमें अपनी प्रतिकृति नहीं देखी जा सकती, उसी तरह मायावी स्वभाव वाला व्यक्ति स्वयं को नहीं देख पाता। उसमें मायाचारी, धोखाधड़ी, आशंका, भय, अविश्वास, पैशून्य, झूठ बोलना आदि की असत् प्रवृत्तियां स्वयमेव आ जाती हैं। उसकी ये प्रवृत्तियां अनार के दाने की तरह अंदर भरी रहती हैं।

किसी संस्कृत कवि ने बड़ा अच्छा कहा है—**संधत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी।** इसका तात्पर्य है कि सुई सरल और सीधी होती है। इसलिए वह टुकड़ों को जोड़ती है, एक करती है, परंतु कैंची वक्र अर्थात् टेढ़ी होती है, इसलिए वह काटने का काम, अलग करने का काम करती है। इसी तरह सरल स्वभावी दो मनों को जोड़ता है, परस्पर प्रेम-भाव स्थापित करता है, पर कुटिल स्वभावी व्यक्ति दो मनों को अलग-अलग कर देता है।

कपटी मनुष्य का मन निर्मल नहीं होता। उसके अंदर प्रकाशपुंज हो ही नहीं सकता। हमारे स्वभाव में सरलता होने से हमें काय की ऋजुता, वाणी की ऋजुता तथा कथनी और करनी में समानता प्राप्त होती है। मायाचारी कुटिल स्वभावी को कभी मानसिक शांति नहीं मिल सकती। उसे संसार में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पाएगा, क्योंकि अविश्वास के कारण छल-कपट से उसकी आत्मा भटकती रहती है और भटकती रहेगी। उसका स्वभाव कुत्ते की पूंछ जैसा वक्र रहता है, जो बारह वर्ष के बाद अंगूठी से टेढ़ी ही निकलेगी। वह अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं पाता और उसी स्वभाव से पतित हो जाता है।

हमारे निर्मल और वक्र भावों का बेतार के तार जैसा संबंध होता है। उसे सामने खड़ा व्यक्ति समझ लेता है। चंदन की लकड़ी का व्यापारी अपने मित्र राजा की मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहा, ताकि उसकी चंदन की लकड़ी बिक सके। राजा को उसकी भावनाओं पर संदेह हो गया। फलतः वह पकड़ा गया। उसी तरह वह उदाहरण भी प्रचलित ही है जिसमें एक पथिक किसी वृद्धा की पोटली तो अपने सिर पर नहीं लेता है, पर बाद में वह लेने की आकांक्षा व्यक्त करता है इसलिए कि उसमें रखे हुए माल-धन को वह हड़पना चाहता था। वृद्धा ने उसके भावों को परख लिया और उसे पोटली देने से मना कर दिया।

अज्ञानी व्यक्ति को टेढ़े चलने में बड़ा आनंद आता है। बच्चे टेढ़े चलने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। मायावी व्यक्ति भी ऐसा ही टेढ़ा चलता है और खुश होता है। पर उसे टेढ़े चलने में शक्ति भी काफी लगानी पड़ती है। हमारी कार जितनी टेढ़ी मोड़ पर चलेगी उतना ही पेट्रोल उसमें अधिक लगेगा।

मायावी का स्वभाव बगुले जैसा होता है। देखने में तो वह सफेद और शुद्धाचरण वाला दिखाई देता है, पर व्यवहार में वह बड़ा कपटी और हिंसक रहता है। दूज का चंद्रमा भी इसी तरह वक्रचंद्र कहा जाता है। जैसे-जैसे उस चंद्रमा की वक्रता कम होती जाती है, वह पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और पूर्ण चंद्रमा कहलाने लगता है।

कपटी शल्यों के संसार में जीता है। वह शल्य तीन प्रकार की होती है—माया, मिथ्या और निदान। वक्रता इन तीनों की आधारभूमि है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से उसका सारा जीवन भरा रहता है, जिसमें दूसरे को हानि पहुंचाना ही मुख्य ध्येय होता है।

कपटी का मन भी शेखचिल्ली जैसा कल्पनाओं में दौड़ता रहता है। सिर पर दूध की मटकी रखे ग्वाला कल्पना जगत में घूमता हुआ मटकी से हाथ धो बैठता है। इसी तरह मायावी व्यक्ति कल्पनाओं के माध्यम से संसार की भोग-वासनाओं को आमंत्रित करता है और फिर दुखों के सागर में कूद पड़ता है।

आज राजनीति आहत हो रही है। वहां जबरदस्त कुटिलता और भ्रष्टाचार पनप रहे हैं। राजनीति आज एक शुद्ध व्यवसाय हो गया है। समाज उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अतः आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए।

आर्जव-धर्म की साधना साधक को धर्म के यथार्थ रूप तक पहुंचा देती है। बनारसीदास और एकनाथ ने, कहा जाता है, चोरों के आने पर अपना धन स्वयं दे दिया। उनकी वह साधना आर्जव-धर्म की साधना थी, जहां अनासक्त और निस्संग भाव पनप चुका था। यही जीवन की निष्कपटता है।

श्रेयार्थी की ऋजुता

जिसमें ऋजुता रहेगी वह श्रेयार्थी होगा और जिसमें कपट होगा वह प्रेयार्थी होगा। प्रेयार्थी सदैव इंद्रियों का दास रहता है, इंद्रियों को जो प्रीतिकर होता है उसकी खोज में वह दौड़ता रहता है, इसलिए दुख पाता है, सदा नए-नए सुख की आकांक्षा करता रहता है, परंतु श्रेयार्थी ऐसा नहीं होता। वह इंद्रियों की चाह को पूरा नहीं करता, जिससे प्रथमतः दुख मिलता है; पर परिणामतः सुख और आनंद की प्राप्ति होती है। वह शाश्वत सुख की खोज में रहता है।

श्रेयार्थी की ऋजुता में धोखा देने का स्वभाव नहीं रहता। वहां सरलता होती है, विनय होता है। सरल व्यक्ति का ज्ञान अनुभव से भरा होगा। उसमें गुरुता होगी, रूपांतरित करने की शक्ति होगी। वह शिक्षक नहीं होगा, गुरु होगा, बौद्धिकता से परे होगा। शिक्षक पाश्चात्य संस्कृति से आया शब्द है जो मात्र व्यावसायिक है, ज्ञान का व्यापार करता है, पर 'गुरु' शब्द हमारी भारतीय संस्कृति का है, जहां ज्ञान का व्यापार नहीं होता। उसे द्विज भी कहा जाता है। वह इसलिए कि माता-पिता तो जन्म दे देते हैं, पर दूसरा जन्म गुरु के पास होता है जो जीवन को जीने का तरीका सिखाता है, अध्यात्म का पाठ पढ़ाता है इसलिए वह पूज्य होता है, श्रद्धेय होता है। गुरु और शिष्य के बीच का संबंध भारतीय परंपरा में अनूठा है। शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन पूरे समर्पण भाव से करता है। उसका अहं गिर जाता है और सदैव गुरु के पास रहता है, निर्व्याज रूप से। यह उसकी ऋजुता है।

भाषा का आरोपण धोखे को जन्म देता है। शरीर और उसकी भावभंगिमा धोखा नहीं दे पाती। बच्चा मां की भावभंगिमा समझ लेता है। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता, पर जैसे ही भाषा का संबंध आता है, धोखा और कपट-भाव प्रारंभ हो जाता है। शायद इसी आधार पर हमारा समूचा मुद्राशास्त्र खड़ा हुआ है। ध्यान की सारी मुद्राएं ऐसी हैं जिनको स्वीकार करने के बाद क्रोध, कपट आदि विकार-भाव स्वतः तिरोहित होने लगते हैं। पद्मासन आदि मुद्राएं ऐसी ही हैं।

ऋजुता आने पर हमारा आक्रामक भाव चला जाता है, नम्रता आ जाती है, गंभीरता पनपने लगती है, किसी को तिरस्कृत करने का भाव नहीं रहता, सभी के साथ सद्भावपूर्वक व्यवहार होता है, निंदक नहीं होता। आंख की शर्म उसमें दिखाई देती है। उसकी चमड़ी मोटी नहीं होती। गलत काम करने का मन नहीं होता। यदि गलती हो भी गई तो उसे सादर स्वीकार कर लेता है और उसका यथोचित प्रायश्चित्त ले लेता है।

इसलिए ऋजुता जीवन का अमिट सूत्र है, मानवता का लक्षण है, अहंकार का विगलन है। उत्तम आर्जव का यही तात्पर्य है कि व्यक्ति धोखेबाज न हो और वह सही जीवन तथा धर्म का मर्म समझे। ❖

जनता में वीभत्स भावों का प्रयोग करने की बुरी आदत इतनी व्यापक है कि इसका उपचार होना मुझे कठिन दीख पड़ता है। अपनी सामर्थ्य-भर मैंने इसे दूर करने की भरसक कोशिश की है, तथापि मेरे संपर्क में आने वाले मुवक्किलों का यह कहना मुझे याद है कि अनेक बार उनके मुख से अनजाने ही बुरे शब्द निकल जाते हैं। यह राग-द्वेष का भी विषय नहीं है। यह बात बहुत समय से पड़ी हुई कुटेव को, जिसमें अब जनता कोई दोष नहीं देखती, निकाल बाहर करने की है। बहुतों को लगेगा कि यह बात उन पर लागू नहीं होती, क्योंकि वे किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं करते। लेकिन वे अपनी भाषा पर ध्यान दें तो वे देखेंगे कि उनके मुंह से भी 'साला' शब्द निकल ही जाता होगा। हमें परस्पर एक-दूसरे को चौकीदार मानकर भाषा के बुरे शब्दों को ध्यान और प्रयत्नपूर्वक दूर करना-कराना होगा। जब-कभी हम दूसरे को कुत्सित शब्दों का प्रयोग करते हुए सुनें, तभी उसे वैसा करने से मना करें तो सुधार हो सकता है। यह बुरी आदत विद्यार्थियों में भी है। बचपन से ही हम ऐसी भाषा सीखते हैं। पाठशालाओं में तो शिक्षकों के माध्यम से तुरंत सुधार हो सकता है।

—महात्मा गांधी

❑

समाज में अनेक लोग जब अनैतिकता का सहारा लेकर ऊपर उठने का प्रयास करते हैं तब चाहे-अनचाहे अन्य लोगों का भी ऐसा ही मानस होने लगता है—ऐसी हालत में नैतिकता और प्रामाणिकता का संकल्प कैसे और कब तक निभ पाएगा? यहां आकर व्यक्ति की आस्था डगमगाने लगती है और कभी-कभी यही अनास्था जरूरी चारित्रिक पतन का हेतु बन जाती है। इसलिए जरूरी है—व्यक्ति प्रारंभ से ही आर्थिक प्रलोभन से मुक्त रहने के संकल्प करे। हमें पदार्थ हानि नहीं पहुंचाता, हमें हानि पहुंचाती है—पदार्थ की मूर्च्छा। पदार्थ के साथ जीते हुए भी उसकी मूर्च्छा और आकांक्षा से मुक्त रहना सचमुच जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है।

शांति का द्वार है निस्पृहता

❑ साध्वी मुदितयशा

बुद्ध प्रवचन कर रहे थे। प्रश्न हुआ—'सबसे बड़ा कौन?' उत्तर दिया गया—'जिसके भीतर कोई इच्छा नहीं। जिसकी कोई मांग नहीं।' प्रवचनसभा में हजारों लोग बैठे थे। परीक्षा का क्रम प्रारंभ हुआ। एक-एक कर सबसे यही प्रश्न पूछा गया—'तुम क्या चाहते हो?' प्रत्युत्तर में सभी ने अपनी कोई-न-कोई चाह प्रस्तुत की। सबकी कुछ-न-कुछ मांग थी। सभा की आखिरी पंक्ति में एक साधारण-सा व्यक्ति बैठा था। उससे भी वही प्रश्न पूछा गया। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—'महाशय! मुझे कुछ नहीं चाहिए।' कई बार पूछने पर भी उसने वही बात दोहराई। प्रश्नकर्ता उसकी निस्पृहता को देखकर बड़ा विस्मित हुआ। कुछ-न-कुछ मांगने के लिए उस पर दबाव डालने लगा। बहुत ज्यादा दबाव पड़ने पर उसने कहा—'यदि मुझे कुछ मांगना ही है तो मैं यही मांगना चाहूंगा कि मेरे भीतर कोई स्पृहा न रहे।'

जीवन में शांति का प्रवेशद्वार है—निस्पृहता। कामनाओं का जाल फैलता है, तो सुख एवं आनंद का स्रोत सूखने लग जाता है। कामनाओं का संसार सिमटता है, तो भीतर में आनंद का पारावार-सा उमड़ने लगता है।

जीवन की दो दिशाएं—संग्रह और त्याग

हमारी जीवनयात्रा के दो प्रमुख आयाम हैं—संग्रह और त्याग। जहां इच्छा है, भीतर में कुछ पाने की अभीप्सा है—संग्रह अनिवार्य है। आज मनुष्य की सारी भाग-दौड़ संग्रह की दिशा में हो रही है। दुनिया में प्रथम पंक्ति का धनी बनने का हर व्यक्ति सपना देखता है। उस सपने को सच में बदलने के लिए उसे न जाने कितने अकरणीय समझौते करने पड़ते हैं। कितनी बार भीतर से निकलने वाली आवाज को अनसुना करना पड़ता है। एक बार अकरणीय की दिशा में उठा कदम सहसा रुकता नहीं। वह आगे-से-आगे अपनी राह तलाश कर लेता है। इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने त्याग को सर्वोच्च स्थान देते हुए बार-बार यही कहा—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'—तुम भोग भी त्यागपूर्वक करो। भोग के साथ त्याग का अंकुश रहेगा तो भोग तुम्हें सताएगा नहीं। आज त्याग का अंकुश अप्रभावी बन रहा है। उसी का परिणाम है—भोग एक समस्या का रूप धारण करता जा रहा है।

अर्थ सर्वस्व : एक भ्रांति

बढ़ती हुई अर्थ-आसक्ति और भोगवाद के कारण मनुष्य का मनोबल कमजोर हुआ है। भावों की पवित्रता ह्रासोन्मुख बनी है। इतना ही नहीं, आज विकास की अवधारणा का केंद्रीय तत्त्व भी 'अर्थ' बनता जा रहा है। अर्थ के द्वारा सब-कुछ प्राप्त किया जा सकता है—यह सोच बल पकड़ती जा रही है, पर समग्रता से चिंतन करें तो लगेगा कि यह सोच निरा भ्रम है।

स्वस्थ समाज की संरचना और सृष्टि संतुलन जैसे महती उद्देश्यों की संपूर्ति मात्र 'अर्थ' के द्वारा संभव नहीं। अर्थ के प्रति अनहद आसक्ति और आकर्षण के कारण समाज में खुलेआम भ्रष्टाचार फल-फूल रहा है। स्वामी-सेवक, अमीर-गरीब की भेदरेखा ज्यों-की-त्यों बनी है। अर्थ के बल पर यदि सृष्टि-संतुलन संभव होता तो क्या प्रदूषण का इतना भयावह रूप हमारे सामने होता? क्या जहरीली गैसों का आक्रमण हमें प्रभावित कर पाता? अर्थोपार्जन के स्रोत आज अप्रत्याशित रूप से बढ़े हैं, पर समस्याएं भी भयावह बनी हैं। अतः स्पष्ट है केवल अर्थार्जन और भोगोपभोग न हमें शांति दे सकते हैं और न तृप्ति।

भौतिकवाद और पदार्थ की आसक्ति

पदार्थ का विकास और समस्या—दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। हमारे परिपार्श्व में उभरने वाली अधिकांश समस्याएं पदार्थ जगत की परिक्रमा करती नजर आएंगी। कौन बड़ा? कौन छोटा? कौन सामान्य? कौन विशिष्ट? इसका मानदंड भी पदार्थ बन गया है। आज सारी प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता पदार्थ के लिए है। संयम और त्याग के क्षेत्र में न स्पर्धा है न भाग-दौड़। पदार्थ की इस तीव्र आसक्ति का ही नाम है—भोगवाद।

मन में प्रश्न हो सकता है कि जिनके पास पदार्थ की प्रचुरता है, जिन्हें हर तरह की सुविधा उपलब्ध है, वे भी पदार्थासक्ति की समस्या से जूझ रहे हैं—क्यों? यहां हमें पदार्थ की प्रकृति का विश्लेषण करना होगा। पदार्थ की प्रकृति विचित्र है। जब तक पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, मन में निरंतर तनाव बना रहता है। पदार्थ प्राप्त हो गया, फिर भी तृप्ति कहां? जैसे-जैसे पदार्थ जगत का विस्तार होता है, अतृप्ति भी गहराती चली जाती है।

अपराध की जड़ : आर्थिक प्रलोभन

वर्तमान सदी आर्थिक प्रतिस्पर्धा की सदी है। आज हर नौजवान आर्थिक उपलब्धियों में ही अपना भविष्य ढूंढता है। अर्थ की धुरी पर खड़ा होकर ही यह निश्चय करता है कि उसे कहां तक पहुंचना है। आज सारा प्रयत्न और पुरुषार्थ अर्थ के लिए है। अर्थ की इस अंतहीन दौड़ में व्यक्ति कभी-कभी वहां पहुंच जाता है, जहां नहीं पहुंचना चाहिए। जहां पहुंचने पर आत्मा भी धिक्कारने लगती है। अर्थलोलुप व्यक्ति उसकी परवाह नहीं करता। आज बहुत-सारे अपराधों की जड़ में व्यक्ति की अर्थलोलुपता छिपी है।

अर्थ के अंधेपन में ऐसी घटनाएं हर रोज होती हैं, जिनकी मीमांसा करें तो पाएंगे कि एक ओर धन का प्रभाव बोल रहा है तो दूसरी ओर धन का अभाव। धन-संपन्न व्यक्ति अपने प्रभाव का प्रयोग करता है। वहीं एक गरीब प्रलोभन की गिरफ्त में आ जाता है। उसे एक बड़ी रकम पाने का सबसे आसान तरीका अपराधवृत्ति में ही नजर आता है। एक व्यक्ति अनुचित कार्य करके आसानी से अर्थ का जुगाड़ कर लेता है। तब भला दस दूसरे व्यक्ति उसका अनुसरण क्यों नहीं करेंगे? इस तरह देखते-ही-देखते एक पूरा वर्ग अपराधवृत्ति के लिए तैयार हो जाता है। उस समय लगता है कि नैतिकता कमजोर पड़ रही है। अनैतिकता का बल बढ़ रहा है।

समाज में अनेक लोग जब अनैतिकता का सहारा लेकर ऊपर उठने का प्रयास करते हैं तब चाहे-अनचाहे अन्य लोगों का भी ऐसा ही मानस होने लगता है—ऐसी हालत में नैतिकता और प्रामाणिकता का संकल्प कैसे और कब तक निभ पाएगा? यहां आकर व्यक्ति की आस्था डगमगाने लगती है और कभी-कभी यही अनास्था जरूरी चारित्रिक पतन का हेतु बन जाती है। इसलिए जरूरी है—व्यक्ति प्रारंभ से ही आर्थिक प्रलोभन से मुक्त रहने के संकल्प करे। हमें पदार्थ हानि नहीं पहुंचाता, हमें हानि पहुंचाती है—पदार्थ की मूर्च्छा। पदार्थ के साथ जीते हुए भी उसकी मूर्च्छा और आकांक्षा से मुक्त रहना सचमुच जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है।

आकांक्षा का अल्पीकरण : एक समाधान

भारतीय संस्कृति और परंपरा में त्याग का स्थान सदा ऊंचा रहा है। इसीलिए हमारे प्राचीन ग्रंथों में लोभ को सारे अनर्थों की जड़ और सर्वविनाश का हेतु बतलाया गया है। कहा जाता है—माया (धन) कभी अकेली नहीं आती, बहुत-सारी बुराइयों को साथ लेकर आती है। योगशास्त्र का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आकरः सर्वदोषाणां गुणग्रासनराक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः।।

धन की लोलुपता बढ़ती है, अनेक दोषों को आश्रय मिल जाता है। धन के साथ क्रूरता बढ़ने लगती है, करुणा, मृदुता और संवेदना का रस सूखने लग जाता है। अहंकार अपना आसन बिछाना शुरू कर देता है। विनम्रता दूर खिसकने लगती है। प्रवंचना को खुलकर खेलने के लिए मैदान मिल जाता है। सरलता, सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता जैसे उदात्त गुण युद्ध में परास्त सैनिकों की भांति पीछे हटने लगते हैं।

धन बढ़ता है, आकांक्षा भी आगे-से-आगे बढ़ती चली जाती है। जिसके पास लाख है, वह सोचता है, काश!

मेरे पास करोड़ होते। करोड़ों की संपदा का मालिक अरबपति बनने का सपना देखता है। व्यक्ति जैसे-जैसे आगे बढ़ता है दुखों के पाश में उलझता जाता है। ऐसा माना जाता है—आकांक्षा की गति वाम होती है। सामान्यतया व्यक्ति को बांध दो, वह चलने में भी असमर्थ हो जाएगा। आकांक्षा की रज्जु ऐसी है जिससे बंधकर व्यक्ति दौड़ने लगता है। आकांक्षा की डोर जैसे-जैसे ढीली होती है, व्यक्ति ठहरने लगता है। उसकी गतिशीलता स्थिरता में बदल जाती है।

जीवन में बहुत-सारी कठिनाइयों से निजात पाने का सर्वोत्तम उपाय है—आकांक्षा का अल्पीकरण। आकांक्षाएं सिमटती हैं, चिंतन की धारा बदल जाती है। एक अल्पेच्छु मनुष्य की सोच होगी—जो मुझे प्राप्त है, वह भी अस्थाई है। एक दिन अवश्य छूटने वाला है, फिर मैं क्यों आसक्ति के बंधन में बंधूं? मैं अपनी ही आकांक्षा से दुखों का सृजन क्यों करूं?

त्राण और शरण बनती है—चेतना

हमारे प्राचीन ग्रंथों में साधुओं की भांति श्रावकों की आचार-संहिता का सुंदर विवेचन है। उस युग में भी एक श्रावक प्रतिदिन यह संकल्प दोहराता था—'कब मैं अल्प अथवा बहुत संपदा का परित्याग करूंगा? कब मैं अकिंचन बनकर साधुत्व का पथ स्वीकार करूंगा?' निरंतर पुनरावृत्त होने वाला यह संकल्प एक संस्कार बन जाता है और एक क्षण आता है, व्यक्ति सब-कुछ त्यागकर संन्यस्त हो जाता है।

आज भी यदि किसी को आनंद और शांति का जीवन जीना हो, अपनी सोच बदलनी हो, जीवनशैली में परिवर्तन लाना हो तो यह यथार्थ सदा स्मृति में रखना होगा कि धन कभी त्राण नहीं देता। आखिरी वक्त में त्राण और शरण बनती है—'चेतना'। आखिरी मोड़ पर पहुंचकर दावं वही व्यक्ति जीतता है जो त्याग और संयम की शरण में आ जाता है।

जीवन की धारा एकाएक नहीं बदलती। परिवर्तन की पृष्ठभूमि में लंबी साधना और लंबा अभ्यास चाहिए। जो प्रारंभ से संयम की साधना से अपने अंतःकरण को भावित करता रहता है, उसके लिए 'छोड़ना' कभी विवशता नहीं बनता। उसके लिए 'संतोषः परमं सुखम्' यह सूक्त महज एक सिद्धांत नहीं, अनुभूति बन जाता है। आज अपेक्षा है—ऐसी जीवनशैली का विकास हो जिससे व्यक्ति जल के मध्य रहते हुए भी कमल की भांति निर्लिप्त रह सके। पदार्थों के मध्य जीते हुए भी ऐसा जीवन जीए कि पदार्थ बंधन का नहीं, मुक्ति का प्रवेश द्वार बन जाए। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

❑

वह बोला, 'राम! राम! आप भी कैसी बातें करते हैं। मैं नरक में ले जाने वाले इस पाप को कभी का छोड़ चुका हूं। अहिंसा ही धर्म का मार्ग है।' और फिर वह अहिंसा की महिमा प्रकट करने के लिए शास्त्र का प्रमाण देने लगा, 'अहिंसा को ही धर्म कहा गया है अतः जूं, खटमल और मच्छर तक की हत्या नहीं करनी चाहिए। हिंसक जीवों की हत्या करने वाला व्यक्ति भी निर्दयी होता है और इसके परिणामस्वरूप उसे घोर नरक में जाना पड़ता है। जिन जीवों ने किसी का कुछ बिगाड़ा ही नहीं है उनकी हत्या करने से कितना पाप लगेगा और कितनी यातना भोगनी होगी—इसे तो बताया भी नहीं जा सकता।

बालकथा

न्याय की कीमत

❑ *भगवान सिंह*

पुरानी बात है—कौए ने कहना शुरू किया—'मैं जिस पेड़ पर बसेरा करता था, उसी पर एक गौरैया भी रहता था। उसका नाम था कपिंजल। शाम ढलने पर हम लोग एक-दूसरे को इतिहास, पुराण और ऋषियों-मुनियों और देश-देशांतर की कहानियां सुनाकर अपना जी बहलाया करते थे। एक बार वह गौरैया दूसरे गौरैयों के साथ धान की पकी हुई बालियां टूंगने के लिए तराई की ओर चला गया।

सूरज ढल गया पर कपिंजल लौटकर नहीं आया। रात हो गई पर वह नहीं लौटा। अब मैं उसके वियोग में छटपटाने लगा। मैं बार-बार अपने-आप से यही पूछता कि कपिंजल अभी तक लौटा क्यों नहीं। किसी ने उसे किसी फंदे में फंसा तो नहीं लिया। किसी ने उसे मार तो नहीं डाला। यदि वह सकुशल होता तो मेरे बिना वह कहीं ठहर नहीं सकता था। कई दिन तक वह लौटा ही नहीं और मैं इसी उधेड़बुन में पड़ा रहा। एक दिन शीघ्रगति नाम का एक खरहा शाम को दौड़ता हुआ आया और पेड़ पर चढ़ कर उसी कोटर में घुस गया जिसमें पहले वह गौरैया रहा करता था। अब मैं भी सोच बैठा था कि कपिंजल कभी वापस नहीं आएगा, इसलिए मैंने भी उसे रोका-टोका नहीं।

उधर कपिंजल धान की बालियां टूंगता मस्ती मनाता रहा। फिर एक दिन उसे अपने घर की याद आई और वह वापस लौटा। वह तो खा-पीकर इतना तगड़ा हो गया था कि पहचान में ही नहीं आ रहा था। पर अपना देश कितना भी गरीब क्यों न हो, होता तो वह अपना ही देश है। वहां किसी को जो सुख मिलता है वह तो स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता, परदेश तो किसी गिनती में ही नहीं आता।

कपिंजल ने जब देखा कि उसके कोटर में एक खरहा घुसा बैठा है तो उसने उसे फटकारते हुए कहा, 'खरहे, तुम मेरे घर में कैसे घुस आए? चलो, बाहर निकलो, खाली करो मेरा घर।'

खरहा यह मानने को ही तैयार नहीं कि घर गौरैया का है। उसने कहा, 'भैये, घर तो यह मेरा हो चुका। इतने दिनों से रह रहा हूं। तू बेकार का पंगा क्यों ले रहा है?'

गौरैये ने कहा, 'मैं इसका सबूत दे सकता हूं कि मैं यहीं पर रहता था।'

खरहा कुछ कानून-वानून भी जानता था। बोला, 'देखो, कानून यह कहता है कि बावड़ी, कुआं, तालाब, मंदिर और पेड़ पर किसी का अधिकार तभी तक होता है, जब तक वह वहां रहता है। एक बार वह वहां से टला और दूसरा कोई आ गया तो पहले वाले का कोई अधिकार नहीं रह जाता।

'इसी तरह खेत के मामले में कहा गया है कि जो दस साल तक लगातार किसी खेत को जोतता-बोता है वह उसका मालिक हो जाता है। यदि कोई यह सिद्ध भी कर दे कि इससे पहले वही इसका मालिक रहा है, या इसका भोग करता रहा है, या कि इसके स्वामित्व का लिखित प्रमाण उसके पास है तो भी उसका कोई मतलब नहीं रह जाता। यह सारा विधान तो मनुष्यों के मामले में है। पशुओं-पक्षियों के मामले में तो यह विधान है कि जो जहां जम गया वहां जम गया, जब तक जमा रहा तब तक उसका। उसके हटते ही उस पर उसका कोई अधिकार नहीं। अब जो भी वहां आए, बैठे या अधिकार जमाए।'

गौरैया पुराण और इतिहास वगैरह तो जानता था पर स्मृतियों और विधानों की उसकी जानकारी कुछ कम थी। उसने कहा, 'यदि तुम स्मृति को ही प्रमाण मानते हो तो चलो किसी कानून जानने वाले के पास चलते हैं और उसी से पूछते हैं कि कानून क्या कहता है। वह जो भी फैसला करेगा वह मुझे मंजूर होगा।'

खरहे को यह प्रस्ताव ठीक लगा। उसने कहा, 'चलो, यही सही।'

अब जब वे दोनों कानूनी सलाहकार या धर्माधिकारी के घर को चले तो मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा कि देखें, इस मामले में होता क्या है।

जब उनके बीच अधिकार को लेकर नोक-झोंक हो रही थी तो उसी समय एक बनबिलार उधर से गुजर रहा था और ये बातें उसके कान में पड़ गई थीं। वह चुपचाप जाकर उनके रास्ते में पड़ने वाली एक नदी के किनारे हाथ में कुश लेकर, सूर्य की ओर मुख करके, आंखें बंद करके, एक पांव पर खड़ा होकर, दोनों भुजाएं ऊपर उठाकर, धर्मोपदेश करने लगा, 'अरे यह संसार तो मायाजाल है। इसका कोई ठिकाना नहीं। इसमें प्रियजनों का संयोग सपने जैसा है। यह सारा घर-परिवार जादू के खेल की तरह दिखावटी है। ठीक ही कहा है कि इसका त्याग करने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं है।' उस बिल्ले को धर्म के बहुत-से उपदेश भी याद थे। वह उनका गान करने लगा, 'यह शरीर तो क्षणभंगुर है ही, धन-दौलत भी टिकाऊ नहीं है। मौत हर क्षण दरवाजे पर दस्तक देती रहती है इसलिए मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि धर्म-पुण्य बूढ़ा होने पर कर लेंगे। धर्म-पुण्य सदा ही करते रहना चाहिए।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नास्ति शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्म संग्रहः।

'जो आदमी धर्म-पुण्य किए बिना ही अपने दिन काट रहा है वह जीते हुए भी जीवित नहीं है। वह तो लोहार की भाथी की तरह है जिससे सांस तो निकल रही है पर फिर भी जो निष्प्राण है।

'जिसमें धर्म की भावना ही नहीं उस व्यक्ति का पढ़ना-लिखना भी व्यर्थ है। उसका ज्ञान कुत्ते की दुम की तरह है जिससे न तो वह अपना तन ढंक सकता है, न ही मक्खियां उड़ा सकता है।'

वह इसी तरह के ढेर-सारे दूसरे उपदेश देता रहा जिसका घुमा-फिराकर एक ही अर्थ निकलता था कि धर्म ही जीवन का सार है, धर्म के बिना जीवन व्यर्थ है और फिर कहने लगा, 'धर्म के काम में अनेक तरह की रुकावटें पैदा होती रहती हैं, इसलिए एक बार इसका मौका हाथ से निकल गया तो फिर हाथ नहीं आता। इसकी गति बड़ी तेज है। इसलिए दूसरे काम करते समय तो आदमी को खूब सोच-विचार से काम लेना चाहिए पर धर्म के काम में सोच-विचार करने की भी जरूरत नहीं। आंखें मूंदो और कर डालो।

'विस्तार में जाने से कोई लाभ नहीं, संक्षेप में कहें तो धर्म है क्या? धर्म है दूसरों की भलाई। यही पुण्य है। और अधर्म क्या है? यह है दूसरों को पीड़ा पहुंचाना। यही पाप है।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।

'धर्म का सार तत्त्व यह है कि जो आप को बुरा लगता है वह काम आप दूसरों के लिए भी न करें।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

उसके उपदेश को सुनकर खरहा बोला, 'कपिंजल, नदी किनारे बैठा वह तपस्वी तो धर्म का ही उपदेश कर रहा है, क्यों न इसी से निर्णय कराया जाए?'

कपिंजल ने कहा, 'नहीं भाई, यह तो हमारा जन्मजात शत्रु है। यदि इससे कुछ पूछना भी है तो दूर रहकर ही बात करेंगे। कहीं ऐसा न हो कि हमें देखकर इसका व्रत धरा-का-धरा रह जाए।'

उन्होंने दूर से ही कहा, 'हे धर्मोपदेशक तपस्वी! हम दोनों के बीच एक विवाद पैदा हो गया है। आप धर्मशास्त्र के अनुसार इसका फैसला कर दीजिए। जो अपराधी हो उसे आप खा जाइएगा।'

वह बोला, 'राम! राम! आप भी कैसी बातें करते हैं। मैं नरक में ले जाने वाले इस पाप को कभी का छोड़ चुका हूं। अहिंसा ही धर्म का मार्ग है।' और फिर वह अहिंसा की महिमा प्रकट करने के लिए शास्त्र का प्रमाण देने लगा, 'अहिंसा को ही धर्म कहा गया है अतः जूं, खटमल और मच्छर तक की हत्या नहीं करनी चाहिए। हिंसक जीवों की हत्या करने वाला व्यक्ति भी निर्दयी होता है और इसके परिणामस्वरूप उसे घोर नरक में जाना पड़ता है। जिन जीवों ने किसी का कुछ बिगाड़ा ही नहीं है उनकी हत्या करने से कितना पाप लगेगा और कितनी यातना भोगनी होगी—इसे तो बताया भी नहीं जा सकता।

'जो लोग यज्ञ में पशुओं का वध करते रहते हैं वे मूर्ख हैं। वे श्रुतियों के गहन अर्थ को जानते ही नहीं। लिखा है कि अजा से ही यज्ञ करना चाहिए, 'अजैर्यष्टव्यं'। वे अजा का अर्थ बकरी कर बैठते हैं। अज सात साल पुराने धान को कहते हैं क्योंकि उससे अंकुर नहीं निकल सकता। इसका अर्थ बकरा नहीं है। कहा है कि पेड़ों को काटकर, पशुओं की हत्या करके, धरती को खून से गीली करके ही यदि स्वर्ग जाया जाता है तो फिर नरक का रास्ता क्या होगा।

'इसलिए मैं तुममें से किसी का भक्षण नहीं करूंगा। मैं केवल इस बात का फैसला करूंगा कि किसकी जीत हुई और कौन हार गया। पर मैं ठहरा बूढ़ा। इतनी दूर से आप लोगों की बात सुनकर यह समझ नहीं पाऊंगा कि कौन क्या कह रहा है इसलिए आप दोनों मेरे पास चले आएं और अपनी बात सच-सच कहें जिससे आपकी बातें ठीक-ठीक समझकर धर्म के अनुसार फैसला कर सकूं और मुझसे कोई चूक न होने पाए, नहीं तो गलत फैसला देने के कारण मेरा भी परलोक बिगड़ेगा। कहा गया है कि यदि कोई अहंकार के कारण या लोभ से या क्रोध से या डर से गलत फैसला करता है तो उसे नरक को जाना पड़ता है।

मानात् वा यदि वा लोभात् क्रोधात् वा यदि वा भयात्।
यो न्यायं अन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः।।'

फिर वह बताने लगा कि सामान्य पशुओं के मामले में गलत फैसला करने पर कितने पशुओं के वध का पाप लगता है, गायों के मामले में गलत न्याय से दस गायों के वध का पाप लगता है। कन्याओं के मामले में गलत फैसला देने पर सौ कन्याओं के वध का पातक लगता है और मनुष्यों के विवाद में गलत निर्णय देने पर एक हजार मनुष्यों के वध का पाप लगता है। इसलिए न्याय सभा में बैठने पर यदि लगे कि कोई चालबाजी की बातें कर रहा है तो उस बीच पड़ना ही नहीं चाहिए। उस विवाद से अलग हो जाना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो हर कीमत पर सही न्याय ही करना चाहिए।

'इसलिए तुम दोनों, मेरा भरोसा करके, मेरे बिल्कुल पास आकर साफ-साफ अपनी बात कहो।'

वे दोनों उसके झांसे में आ गए और उस पर विश्वास करके उसके पास जा पहुंचे। अब क्या था। उसने झपटकर एक को पंजों में दबोचा और दूसरे को दांतों में दबा लिया। इस तरह उन दोनों के प्राण चले गए। वह मजे में बैठकर उन्हें खाता रहा।'

× . × ×

कौए ने छूटी हुई कड़ी जोड़ते हुए पक्षियों से कहा, 'इसीलिए मैं कह रहा था कि यदि राजा खोटा हो तो प्रजा का सत्यानाश हो जाता है। आप लोगों की हालत भी यही है। आप को राजा भी मिला तो अंधा। जब उसे ही कुछ नहीं सूझता तो उसके कहे पर चलने वालों को क्या सूझेगा। एक दिन आप लोग भी खरहे और गौरैया की तरह यमलोक को जा पहुंचेंगे।'

उसने अपनी बात का असर होते देखकर अंत में कहा, 'मेरा कर्तव्य था कि जो-कुछ उचित है वह आपसे कह दूं। मैंने अपना काम पूरा कर दिया। अब आप जानें और आपका काम।'

कौए की बात सुन कर सभी पक्षी कुछ सोचते हुए सिर हिलाने लगे। सभी अपनी-अपनी भाषा में एक ही बात दूसरे को समझा रहे थे कि कौए ने पते की बात कही है। आज हमें राजा का चुनाव टाल देना चाहिए। इसके लिए हम फिर एकत्र होंगे और तब राजा का चुनाव किया जाएगा। यह कहकर वे सभी उड़कर अपने-अपने बसेरे की ओर चल पड़े।

उल्लू तो ठहरा पक्का उल्लू। उसे दिन में कुछ दिखाई नहीं देता है। वह अकेला, अपनी प्रेमिका खिड़रिच के साथ सिंहासन पर बैठा राज्याभिषेक की प्रतीक्षा करता रहा। जब उसे लगा कि देर कुछ अधिक हो रही है तो उसने कहा, 'अरे यहां कोई है? चारों ओर इतना सन्नाटा क्यों छाया हुआ है? मेरे राजतिलक में इतनी देर क्यों हो रही है?'

इस पर खिड़रिच ने कहा, 'हुजूर, आपके राजतिलक में इस नालायक कौए ने टांग अड़ा दी। इसी के कहने में आकर सारे पक्षी अपने-अपने स्थान को चले गए। अकेला यह कौआ ही है जो जाने क्या सोच कर अभी तक ठहरा हुआ है। अब यहां अगोरने से कोई लाभ नहीं। आप यहां से उठें। और कुछ नहीं तो मैं आपको सकुशल आपके घर तक तो छोड़ आऊं।'

यह सुनकर उल्लू ने बिलखकर कहा, 'अरे पापी, मैंने तेरा क्या बिगाड़ा था जो तूने आज मेरे राजतिलक में विघ्न डाल दिया? आज से मेरे-तेरे बीच पुश्त-दर-पुश्त के लिए दुश्मनी छिड़ गई। कहा भी गया है, बाण का घाव भर जाता है। तलवार की चोट भर जाती है। पर कटु और घिनौनी बात का घाव कभी नहीं भरता।'

इस तरह की धमकी देकर वह खिड़रिच के साथ उड़कर अपने घर चला गया। उसके चले जाने के बाद कौए का होश ठिकाने आया। वह सोचने लगा, मैंने बैठे-बिठाए दुश्मनी मोल ले ली। मुझे क्या पड़ी थी जो मैंने उल्लू के राजतिलक में बखेड़ा पैदा कर दिया। कहते हैं, यदि कोई आदमी कोई बात किसी ऐसी जगह कहता है जहां वह बात नहीं कही जानी चाहिए, या ऐसे समय पर कहता है जब वह बात नहीं कही जानी चाहिए, कोई ऐसी बात कहता है जो अशुभ है, या किसी को प्रिय नहीं लगती, या जिससे उसका ही ओछापन प्रकट होता है, या जिसे कहने का कोई कारण ही नहीं है, तो वह बात बात नहीं रहती, उसे विष समझना चाहिए।

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः।
यच्चाब्रवीत् कारणवर्जितं वचो, न तद्वचः स्यात् विषमेव तद्वचः।

फिर बुद्धिमान व्यक्ति बलवान हो तो भी उसे किसी को यूं ही अपना दुश्मन नहीं बना लेना चाहिए। क्या कोई समझदार व्यक्ति यह सोचकर कि वैद्य मेरे घर पर ही है, विष खा लेगा!

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः परं नयेत् न स्वयमेव वैरिताम्।
भिषक् ममस्तीति विचितन्त्य भक्षयेत् अकारणात्को हि विचक्षणो विषम्।

आदमी के पास थोड़ी-सी भी अकल हो तो उसे किसी की निंदा भरी सभा में नहीं करनी चाहिए। किसी बात का सच होना ही काफी नहीं है। यदि बात सच हो पर उसे सुनने पर किसी को कष्ट होता हो तो उसे नहीं कहना चाहिए।

सत्यं अपि तत् न वाच्यं यत् उक्तं असुखावहं भवति।

समझदार आदमी को चाहिए कि वह कोई काम अपने जाने-पहचाने लोगों से अच्छी तरह सलाह करने के बाद ही करे। जो ऐसा करता है उसको यश और धन दोनों प्राप्त होते हैं। ❖

धार्मिक संप्रदाय के आधार पर किसी बिरादरी की कल्पना और अन्य को अपने से सामाजिक स्तर पर अलग मानने की धारणा असंगत ही नहीं बल्कि अधार्मिक भी है।

—नन्दकिशोर आचार्य

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।